संगीत दर्शन

विजयलक्ष्मी जैन

संगीत-दर्शन

लेखक
श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन
एम. ए. संगीत (स्वर्णपदक), बी. एड.

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

प्रकाशक :

राजस्थानी ग्रन्थागार
सोजती गेट के बाहर
जोधपुर

प्रथम संस्करण, 1989

मूल्य : पचास रुपये मात्र

मुद्रक :

प्रिंटिंग हाउस
जालोरी गेट के अन्दर
जोधपुर

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक संगीत-दर्शन संगीत के दार्शनिक पहलू से सम्बन्धित है। आज के युग में हर विषय का दार्शनिक विवेचन किया जाता है, अतः संगीत के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक अध्ययन के साथ-साथ उसका दार्शनिक अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। संगीत के दार्शनिक विश्लेषण में संगीत एवं कला, कला के उद्देश्यों की संगीत द्वारा पूर्ति, ललित कलाओं में संगीत का स्थान, संगीत एवं सौन्दर्य, सौन्दर्य के तत्वों का संगीत में निरूपण, संगीत में सौन्दर्याभिव्यक्ति, रस तथा संगीत, संगीत में अभ्यास व साधना, संगीत की भावात्मक तथा संप्रेषण शक्ति, संगीत एवं संस्कृति तथा धर्म, संगीत का जीवन में महत्व व कार्य तथा संगीत एवं श्रोता आदि अनेक बिन्दु आते हैं।

कला, सौन्दर्य तथा रस विषय पर कुछ स्वतंत्र पुस्तकें तथा सामग्री उपलब्ध है, परन्तु उनमें से अधिकांश सामग्री अंग्रेजी में है। हिन्दी भाषी विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों के लिए इन पुस्तकों को जुटाना तथा समझना दोनों ही कठिन हैं। संगीत-दर्शन पर हिन्दी भाषा में कोई भी पुस्तक उपलब्ध न होने के कारण, विद्यार्थियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कला, सौन्दर्य अथवा रस आदि विषयों पर कुछ हिन्दी पुस्तकें अवश्य हैं, परन्तु उनमें इन विषयों का विश्लेषण संगीत के सन्दर्भ में नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने इन सभी विषयों का विश्लेषण संगीत के सन्दर्भ में किया है।

पुस्तक में अनेक विद्वान लेखकों की पुस्तकों से सामग्री जुटायी गयी है। इन विद्वानों में एस. के. सक्सेना, आर. सी. मेहता, आचार्य बृहस्पति, आर. जी. कलिंगवुड, कुमार विमल, रवीन्द्रनाथ टैगोर, वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. भोलाशंकर व्यास, हृदयनारायण मिश्र आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों की पुस्तकों से पर्याप्त सामग्री तथा सहायता प्राप्त हुई है, अतः मैं इन सभी की ऋणी हूँ। इसके अतिरिक्त संगीत से सम्बन्धित विभिन्न पत्रिकाओं में, विद्वान संगीतज्ञों द्वारा लिखित निबन्धों एवं 'आर्टिकल्स' से, उनके मतों का संकलन कर, यथास्थान उनका उल्लेख भी किया है।

'संगीत-दर्शन' में मैंने संगीत के दार्शनिक पहलू से सम्बन्धित विषयों पर, उपलब्ध सामग्री को संकलित कर हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया है। पुस्तक में प्रत्येक बिन्दु को सरल एवं ग्राह्य भाषा में उदाहरण सहित समझाने का भी मैंने प्रयत्न किया है। इस विषय पर हिन्दी

में कोई पुस्तक उपलब्ध न होने के कारण, जिन कठिनाइयों तथा समस्याओं का सामना विद्यार्थियों को करना पड़ता है, उन्हें समाप्त न सही, कम अवश्य कर सकूँ, इसी भावना से प्रेरित होकर मैंने यह पुस्तक लिखी है। आशा है, संगीत-दर्शन जैसे गूढ़-गम्भीर विषय पर, पाठकों व विद्यार्थियों को यह पुस्तक लाभान्वित करेगी। उन्हें अपनी कल्पना तथा सोचने के लिए आधार प्रदान कर, मार्गदर्शन में सहायक होगी।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने तथा पूर्ण करने में श्री सुधीर कुमार ने मुझे बराबर प्रेरित व उत्साहित किया। सम्बन्धित सामग्री जुटाने तथा मुद्रण तक के कार्य में, दिये गये सहयोग के लिए भी मैं श्री सुधीर कुमार की आभारी हूँ।

श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन
697, 9th 'सी' रोड
सरदारपुरा, जोधपुर

प्राक्कथन

करीब सौ साल पहले तक या भातखंडेजी के संगीत शास्त्र, श्रीमल्लक्ष्य-संगीतम् आदि पुस्तकों के लिखने तक गायक-वादक गाते-बजाते अच्छा थे पर उनका सैद्धान्तिक ज्ञान न के बराबर था। महामना पं. मदनमोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जब संगीत-शिक्षण की योजना बनाई तो पुस्तकों का अभाव उन्हें बहुत खटका, जिसकी स्मरणीय पूर्ति भातखंडेजी ने की। आज भी संगीत-सिद्धान्त में समझ के साथ रुचि लेने वाले अधिक नहीं हैं, यद्यपि कहीं-कहीं संगीत शास्त्र में एम. ए. का पाठ्यक्रम चालू है।

एम. ए. संगीत में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करने वाली मेरी पूर्व छात्रा श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन ने इस पुस्तक में कला-समीक्षा, ललित कलाओं में संगीत का स्थान, संगीत और दर्शन, संगीत और धर्म, कण्ठ-संवर्द्धन (Voice Culture), नायक-नायिका भेद, रस-सिद्धान्त का विवेचन तथा संगीत में रस आदि विषयों पर अपने अध्ययन का सुफल सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। जो भी विषय उठाया है उसको समझाने का सफल प्रयास किया है। एम. ए. के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। सांगीतिक सिद्धान्तों का इसमें व्यवहार पक्ष के साथ सामंजस्य बिठाने का साधु प्रयत्न किया है। एक ही पुस्तक में इतने विषयों पर सामग्री कम ही पुस्तकों में सुलभ होती है। छापे की तथा अन्य कुछ अशुद्धियां रह गई हैं जिनका अगले संस्करण में परिष्कार वांछनीय है।

विजयलक्ष्मी की संगीत-जगत् में अभ्युन्नति की कामना सहित—

शान्ति सहल
अध्यक्ष, संगीत विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

मैंने 'संगीत-दर्शन' पुस्तक को पढ़ा। इसमें संगीत के सैद्धान्तिक ज्ञान के अत्यावश्यक पहलू—संगीत दर्शन—का समुचित व सांगोपांग विवेचन किया गया है, जिस पर स्वतंत्र एवं प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तक का अब तक अभाव रहा है। लेखिका ने संगीत-दर्शन की यत्र-तत्र उपलब्ध सामग्री को संकलित और सुव्यवस्थित करके उसे पुस्तक का रूप प्रदान किया है तथा दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित विभिन्न बिन्दुओं—कला, सौन्दर्य, रस, नायक-नायिका भेद, धर्म, संस्कृति, दर्शन, श्रोता आदि का विश्लेषण भी सोदाहरण किया है। अतः पुस्तक संगीत-शिक्षार्थियों के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगी। सरल भाषा व सोदाहरण विवेचन की दृष्टि से लेखिका का यह प्रयास प्रशंसनीय है। मैं कामना करता हूं कि भविष्य में लेखिका इससे भी श्रेष्ठ रचनाएँ प्रदान करके संगीत-जगत को लाभान्वित करती रहेंगी।

डॉ. भगवतीलाल शर्मा
अध्यक्ष, संगीत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अनुक्रमणिका

अध्याय 1

कला का अर्थ

कला क्या है ?

किसी भी कार्य को चतुराई पूर्वक, कुशलता के साथ, सुन्दर रूप में किया जाय, उसे बोलचाल की भाषा में कला कहा जाता है। प्राचीन काल में भारत में 64 कलाएँ मानी जाती थीं, जो चारु तथा कारु नामक भेद से विभक्त थीं। कारु का सम्बन्ध उपयोगिता से था और चारु का केवल सुन्दरता से। आधुनिक समय में कला शब्द हर कार्य के साथ जुड़ गया है, जैसे—पाक कला, गृह-सज्जा कला, बुनाई-सिलाई कला, यहां तक कि शरीर के रख-रखाव से सम्बन्धित केश-सज्जा तथा रूप-सज्जा भी कला मानी जाती है। इस प्रकार कला शब्द का प्रयोग बोलचाल में जहां-तहां कर लिया जाता है।

कला शब्द की उत्पत्ति 'कल्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'उत्पन्न करना', अर्थात् कुछ नवीन बनाना। कला एक व्यापक व विस्तृत विषय है, जिसका अपना शास्त्र, नियम है, इसलिए साधारण अर्थ द्वारा कला का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। कला को भली भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके विषय में विभिन्न विद्वान विचारकों के मतों का अध्ययन किया जाय। ये विद्वान कला को समय, परिस्थिति की मांग के अनुसार भिन्न रूप में देखते हैं और इसी कारण उनकी कला के सम्बन्ध में भिन्न धारणाएँ हैं।

कला की परिभाषा

कला की अनेक विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण से विवेचना की। समय-समय पर कला के प्रयोजन बदले और उसी आधार पर विचारकों ने कला की परिभाषा की। कुछ विचारक कलावादी हैं जो 'कला को कला के लिए' मानते हैं। ये विचारक कला में सौन्दर्य को विशेष महत्त्व देते हैं, उसकी उपयोगिता व नैतिकता को नहीं। दूसरी ओर कुछ विचारक कला की उपयोगिता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि उनके विचारानुसार 'कला जीवन के लिए' है। कुछ मनोवैज्ञानिक विचारकों ने कला का विश्लेषण मनो-

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में किया। इन सभी प्रकार के विचारकों की कुछ परिभाषाएँ निम्न हैं—

प्लैटो—"कला सत्य की अनुकृति है।"

अरस्तू के अनुसार—"कला प्रकृति है और इसमें कल्पना भी है।"

अरस्तू का मत प्लैटो से अधिक सार्थक है। व्यक्ति कला में प्रकृति का अनुसरण करता है, अभिव्यक्ति द्वारा उसे पुनः सृजित करता है। इस सृजन में वह कल्पना द्वारा नवीनता भी पैदा करता है।

क्रोचे ने कहा—"अभिव्यक्ति ही कला है।"

मैथिली शरण गुप्त के शब्दों में—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है।"

मैथिली शरण गुप्त ने कुशल शक्ति शब्द का प्रयोग कला के सन्दर्भ में सही किया है। अभिव्यक्ति में कुशलता, सुन्दरता होगी तभी वह कला की श्रेणी में आएगी।

महात्मा गाँधी ने कला की परिभाषा उसकी उपयोगिता के महत्त्व को ध्यान में रखकर की। उनके अनुसार—कला से जीवन का महत्त्व है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाए तो वह कला क्या हुई।"

टालसटाय के शब्दों में—"कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है।"

आचार्य शुक्ल—"एक अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कला है।"

जहाँ गाँधीजी, टाल्सटाय आदि विचारकों ने कला को इतना श्रेष्ठ साधन माना, वहाँ कुछ विचारकों ने कला की नैतिकता तथा उपयोगिता को पूर्ण रूप से नकारा।

इलाचंद्र के अनुसार—"विश्व की अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का प्रकाश है। उसमें नीति तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उच्च अंग की कला में इनमें से किसी तत्त्व की खोज करना, सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।"

उक्त परिभाषा में सच्चाई का कुछ अंश अवश्य है। मिस्र के पिरामिड, बीबी का मकबरा, ताजमहल आदि इसी प्रकार की कलाकृतियां हैं। ये सभी कब्रें हैं और इनकी कोई अन्य उपयोगिता नहीं है सिवाय इसके कि ये सौंदर्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। परन्तु कुछ अपवादों के कारण कला की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता।

हरबर्ट स्पेंसर—"कला अतिरिक्त शक्ति का प्रसार व खेल की मूल प्रवृत्ति का फल है।"

फ्रायड के शब्दों में—"अतृप्त इच्छाओं तथा वासनाओं का प्रदर्शन कला है।"

एक अन्य विद्वान—"रेखाओं, रंगों, शब्दों, ध्वनियों व गतियों के माध्यम से मनुष्य के मनोगत भावों की बाह्याभिव्यक्ति ही कला है।"

उपरोक्त तीनों परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि कला की जड़ें मनोभावों में हैं तथा फल अभिव्यक्ति में। ये भाव कुण्ठा, अतृप्त इच्छा भी हो सकती है तो उपासना, भक्ति, सेवा आदि भी।

प्रसाद जी के अनुसार—"ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का जो संकुचित रूप मनुष्य को मिलता है, उसी का विकास कला है।"

अर्थात् ईश्वर की कला है प्रकृति और मनुष्य की कला है कला। प्रकृति सदा से कलाकार की सहचरी रही है। वह साज-संभाल द्वारा उसे मनोनुकूल बना लेता है, जबकि विज्ञान प्रकृति को उपास्य से परिचारिका बना लेता है। कला इतनी सहज हो कि प्रकृति के निकट हो।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम कला को तीन रूपों में स्वीकार कर सकते हैं :—

(1) मौलिक चित्त अनुभूति

(2) शिल्प अथवा टैक्निक

(3) अभिव्यक्ति

कलाकार मौलिक सत्-चित्-आनन्द की अनुभूति को प्राप्त ज्ञान के अनुसार अपनी सीमाओं के अन्तर्गत सम्पूर्ण शिल्प-विधान द्वारा अभिव्यक्त करता है तथा द्रष्टा व श्रोता को उसकी अनुभूति कराता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया ही कला है। कला में स्वाद तथा तोष दोनों विद्यमान होते हैं। कला को श्रेयस् (कल्याणकारी) तथा प्रेयस् (प्रिय लगना) दोनों से युक्त होना चाहिए। कला केवल मस्तिष्क अथवा बुद्धि का व्यायाम नहीं है, वरन् स्वतः स्फूर्त व हृदयगत भावों से सम्बद्ध है। यही कारण है कि कलाकार कला में डूब जाता है और कुछ समय के लिए आत्म-विस्मृति की स्थिति में पहुंच जाता है।

कला के तत्त्व

जब हम किसी कार्य को कला की श्रेणी में रखते हैं तब उस कार्य को पहले आंकते हैं। उसमें कुछ बातों का होना जरूरी होता है जो उसे कला कहलाने के योग्य बनाती है। ये ही कला के तत्त्व हैं। हर कला में इन तत्त्वों का होना जरूरी है। ये तत्त्व कौन-कौनसे हैं, इस विषय पर मामूली विचार भेद के होने पर भी मूलतत्त्व लगभग सभी द्वारा स्वीकार्य हैं। रवीन्द्रनाथ

टैगोर ने कला के निम्न तत्त्व बताये हैं :—

(1) **रूप या आकार** (Form)—मूर्ति, चित्र, संगीत, चाहे जो कला हो, उसकी कृति का एक निश्चित रूप या आकार होना चाहिए। क्या बनाया है, यह उसे देखते ही ज्ञात हो जाना चाहिए। जिस प्रकार स्थापत्य कला में मन्दिर का रूप गोल गुम्बद, कलश आदि से युक्त होता है तो मस्जिद में मीनारों से। अतः कृति में रूप व आकार मर्यादानुकूल होना चाहिये।

(2) **प्रमाण** (Proportion)—रूप तथा आकार के अनुकूल सभी घटकों व आयामों में प्रमाण का ध्यान रखा जाना चाहिए। जिस प्रकार बच्चे के चित्र अथवा मूर्ति में उसके अंगों का प्रमाणानुसार होना जरूरी है। जैसे धड़ छोटा हो और सिर बड़ा हो अथवा मुख पर नेत्र अधिक बड़े हों तो कृति न सुन्दर बनेगी न स्वाभाविक। इसी प्रकार काव्य में मात्रा, छन्द, अलंकारों आदि का सप्रमाण ही प्रयोग होना चाहिए।

(3) **भाव** (Feeling)—जैसा कि परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि कला भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है अतः यह आवश्यक है कि जिस भाव को लेकर कृति बनी हो उसके द्वारा वह भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होना चाहिए। मूर्ति, चित्र आदि में हास्य, रोष, वीरता आदि के भावों को स्पष्ट होना चाहिए, तभी कृति सजीव प्रतीत होती है। कृति में भाव का स्पष्ट अंकन हो तथा साथ ही कृति में स्थित भाव दृष्टा अथवा श्रोता में भी पैदा हो जाय, इसमें उस कृति को सक्षम होना चाहिए।

(4) **लावण्य** (Quality)—यह कला का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। रूप, प्रमाण व भाव द्वारा कृति में लावण्य पैदा किया जाता है। समान सामग्री के उपरान्त भी भिन्न कलाकार की कृति भिन्न होती है। एक को देखते ही हम वाह-वाह कर उठते हैं, यही लावण्य है, यही सौन्दर्य है। यही लावण्य सम्पूर्ण कला का ओज एवं कलाभिव्यक्ति का आकर्षण है।

(5) **सादृश्य या उपमा** (Example)—कला में सौन्दर्य पैदा करने का एक विशेष माध्यम है—उपमा। काव्य में तो उपमा प्राण है—मृगनयनी, चरणकमल, श्वेतधवल आदि असंख्य उपमाएँ हैं। चित्र व मूर्तिकला में भी उपमाएँ मिलती हैं, जैसे—पतझड़ का दृश्य शोकसूचक, लाल रंग क्रोध का, श्वेत रंग शांति का सूचक होता है। इनके द्वारा कला को अधिक सुन्दर बनाया जाता है।

उपरोक्त तत्त्वों से थोड़ी-सी भिन्नता के साथ, एस. एन. गुप्ता ने भी कला के कुछ तत्त्व अथवा सिद्धान्त बताए हैं। उनके अनुसार किसी भी कला में निम्न तत्त्वों का होना जरूरी है :—

(1) **विचार करना** (Conception)—कलाकार के मन में सबसे पहले कोई विचार होता है। यह विचार किसी घटना के परिणामस्वरूप भी पैदा हो सकता है। अपने मस्तिष्क में स्थित उसी विचार को वह कलाकृति के रूप में मूर्त रूप प्रदान करता है। कृति की धारणा उसके मस्तिष्क में स्पष्ट होनी जरूरी है। क्या बनाना है अथवा चित्रित करना है अथवा गाना है, यही विचार यदि उसके मस्तिष्क में स्पष्ट नहीं होगा तो वह न चित्र बना सकता है, न गा सकता है।

(2) **ध्यान** (Meditation)—कलाकार को अपने विचार को साकार रूप देने के लिए उस पर ध्यान केन्द्रित करना, उस पर चिंतन-मनन करना बहुत जरूरी है। एकचित्त हुए बिना न वह नवीन कल्पना कर सकता है और न ही उसे प्रस्तुत कर सकता है। मूर्ति अथवा चित्रकला में ध्यान विचलन से छैनी-हथौड़ा अथवा तूलिका पर हाथ फिसलने से कृति खण्डित हो सकती है, बिगड़ सकती है। अतः कृति बनाते समय ध्यान की एकाग्रता व उसी का मनन आवश्यक है। यही कारण है कि शिल्पी या चित्रकार कृति बनाते समय अपने विचारों में खोए रहते हैं। इस प्रकार के ध्यान व मनन से युक्त कृति ही सौन्दर्यमयी होती है और भाव-सम्प्रेषण में सफल होती है।

(3) **कल्पना** (Imagination)—कल्पना के बिना कला का अस्तित्व नहीं है। कल्पना ही वह माध्यम है जिसके द्वारा कला सदा नवीन रूप धारण करती है। पुराने भवन निर्माण व आधुनिक भवन निर्माण, प्राचीन चित्र शैली व आधुनिक शैली आदि में अन्तर आने का बीज इसी कल्पना में निहित है। एक राग सैकड़ों वर्षों में भी पुरानी नहीं होती, उसका कारण यही कल्पना है जिसके द्वारा हर गायक उसे अपने तरीके से प्रस्तुत कर नवीनता प्रदान करता है। विषय चाहे कलाकार प्रकृति से ले परन्तु प्रस्तुत उसे वह कल्पना से सजाकर ही करता है।

(4) **आध्यात्मिकता** (Spirituality)—प्राचीन काल से ही भारतीयों के जीवन में धर्म व अध्यात्म की प्रधानता रही है, इसलिए कला का अन्तिम उद्देश्य भी अध्यात्म से जुड़ा है। कला में इतनी शक्ति हो कि वह मनुष्य को अध्यात्म की ओर प्रेरित कर सके। नैतिकता व आध्यात्म विहीन कलाएँ निम्न कोटि की होती हैं। कलाकार स्वयं उस आनंदानुभूति तक पहुंचे जिसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। कला में मनुष्य को मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख करने की शक्ति होनी चाहिए।

(5) **प्रकृति** (Nature)—अध्यात्म से जुड़ा होने पर भी कलाकार प्रकृति का सहारा लेता है। प्रकृति की उपमाएँ देता है जैसे मेघ, चाँद, इंद्रधनुष।

इसी प्रकार चित्रकार कभी उदय होते सूर्य की रक्तिम आभा से सुन्दरता भरता है तो कभी अन्धकार में तारों की छटा दिखाता है। ऋतुओं का वर्णन मूर्ति, चित्र, काव्य तथा संगीत आदि सभी कलाओं में मिलता है। अतः चाहे जो कला हो, उसमें कितनी ही कल्पना हो पर प्रकृति की अवहेलना कलाकार नहीं कर सकता। कला में वास्तविकता लाने के लिए प्रकृति का निर्वाह जरूरी है।

(6) **प्रतीकवाद** (Symbolism)—हर कला में प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। भारतीय कला में किसी-न-किसी रूप में प्रतीकों का अंकन हुआ है। इन प्रतीकों से देवी-देवता भी वंचित नहीं हैं। गणेश को ज्ञान का, लक्ष्मी को धन का, इसी प्रकार लाल रंग क्रोध का, हरा रंग सम्पन्नता का प्रतीक है। संगीत में रागों के प्रतीक हैं राग-ध्यान तथा रागचित्र।

उपरोक्त तत्त्वों के साथ-साथ कलाकार में कुशलता अथवा दक्षता का होना जरूरी है। एक चित्रकार बिना त्रुटि के, बिना कोई रेखा मिटाए, एक बार में ही किसी का, कोई भी चित्र बना लेता है, जबकि हम सभी ऐसा नहीं कर पाते। कुशलता के परिणामस्वरूप ही एक विद्यार्थी तथा कलाकार गुरु के चित्र अथवा गायन-वादन में अन्तर होता है। अतः अन्य सभी तत्त्वों कल्पना, ध्यान, प्रतीक, भाव, प्रमाण आदि का प्रयोग कुशलतापूर्वक करने पर ही कृति उत्कृष्ट व सुन्दर बनेगी। कलाकार कितना कुशल व दक्ष है, इसका ज्ञान उसकी कृति को देखकर होता है।

कला तथा सौन्दर्य

सौन्दर्य अपने आप में एक विस्तृत शब्द है जिसका अपना स्वतन्त्र शास्त्र (सौन्दर्यशास्त्र) तथा सिद्धान्त हैं। सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा हम आगे के अध्यायों में करेंगे। यहाँ हम कला तथा सौन्दर्य के सम्बन्धों पर, सौन्दर्य का कला में क्या स्थान व महत्त्व है, इसका विश्लेषण करेंगे।

रवीन्द्रनाथ ने लावण्य को एक तत्त्व के रूप में लिया है, यही लावण्य है जिसे हम सौन्दर्य कह सकते हैं। सौन्दर्य कला का प्राण है, यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कला का अन्तिम उद्देश्य यद्यपि आध्यात्मिकता लिए है, तथापि सौन्दर्य की उपस्थिति भी अनिवार्य है। प्रमाण, कल्पना, प्रतीकों, रंगों, उपमाओं, प्राकृतिक दृश्यों का सहारा कलाकार अपनी कृति को सुन्दर बनाने के लिए ही लेता है।

दृश्य जगत में बहुत-से ऐसे तत्त्व हैं, जिन्हें हम असुन्दर, घृणित अथवा भयावह कहते हैं। पर जब एक कवि अथवा चित्रकार उसे ही अपने माध्यम

से साकार करता है तो वे घृणित अथवा असुन्दर नहीं लगते वरन् हम उसे सराहते हैं। बाढ़ से उत्पन्न दृश्य बड़ा डरावना होता है, उसी प्रकार युद्ध में हताहतों को हम देख नहीं सकते पर चित्रकार उसे ही इतने मार्मिक व सुन्दर तरीके से चित्रित करते हैं कि उसमें सौन्दर्य दिखाई देता है। शब्दों के माध्यम से कवि किसी भी विषय का समूचा दृश्य उपस्थित करता है और हम दाद देते हैं।

जीवन में हम जिसे अश्लील मानते हैं कलाकार उसे ही उच्च कोटि की कला बना देता है। स्तन-पान करवाती माँ की मूर्ति अथवा चित्र अथवा खजुराहो के मन्दिरों में हम अश्लीलता नहीं देखते वरन् कृतियों का सौन्दर्य देखते हैं। विभिन्न कला के कलाकारों ने यह साबित किया है कि जिन वस्तुओं को हम असुन्दर कहते हैं वे भी कला के रूप में निर्मित होने पर केवल सौन्दर्य बिखेरती हैं। चित्रकार, मूर्तिकार अथवा कवि आदि अपने मनोबल, रुचि तथा कुशलता द्वारा असुन्दर को सुन्दर बना देता है। कला कभी असुन्दर नहीं होती।

प्राय: देखा जाता है कि घरों में स्त्रियाँ त्यौहार व विवाहादि अवसरों पर जैसे करवा-चौथ, नाग-पंचमी आदि पर दीवार पर चित्र बनाती हैं, पर उन्हें कला की श्रेणी में क्यों नहीं रखते ? कारण स्पष्ट है कि उनमें सौन्दर्य का अभाव होता है। न हम उनकी कृति को कला कहते हैं, न उन्हें कलाकार।

कला व सौन्दर्य का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। सौन्दर्य के अभाव में कला को कला नहीं कहा जा सकता। कला रूप है तो सौंदर्य उसका प्राण है। कला की श्रेयसता उसकी उपयोगिता पर निर्भर है तो प्रेयसता का मूल है उसका सौन्दर्य। सौन्दर्य ही वह तत्त्व है जिससे व्यक्ति को आनन्द व तोष की प्राप्ति होती है। आनन्दानुभूति अथवा रसानुभूति का आधार भी यही सौन्दर्य है। ताजमहल देखकर अथवा वृन्दावन बाग देखकर हम आनन्दित होते हैं, इस आनन्द का आधार उसका सौन्दर्य ही है। श्वेत संगमरमर का पत्थर, उस पर की गई नक्काशी, जाली-झरोखे आदि जो सौन्दर्य पैदा करते हैं, हम वही देखकर प्रसन्न होते हैं। अत: सौन्दर्य के माध्यम से कलाएँ आनंद प्रदान करने की ओर उन्मुख रहती हैं और कलाकार अपनी कृति को अधिकाधिक सुन्दर बनाने में जुटा रहता है। अनुभूति से अभिव्यंजना, अभि-व्यंजना से रसोद्रेक, रसोद्रेक से सौन्दर्यानुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति से चिर आनन्द की प्राप्ति कराना ही कला का कार्य है। अत: स्पष्ट है सौन्दर्य बिना यह आनंद संभव नहीं।

अध्याय 2

ललित कलाएँ एवं संगीत

मानव भावनाओं की सुन्दरतम अभिव्यक्ति का साकार रूप ही कला है। जब मानव अपने किसी गुण की अभिव्यक्ति सुन्दर व आकर्षक ढंग से करता है तो उसके उस गुण की अभिव्यक्ति कला का रूप ले लेती है। उस सौन्दर्य-मयी कला की सबसे सौन्दर्यमयी विधा ही 'ललित कला' है। आदि काल से मानव आनन्द की खोज करता आया है और प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित रहा है। विकास के साथ-साथ मानव की कल्पना, सृष्टि से तादात्म्य स्थापित करती रही और प्रकृति को सुन्दर रूप देने की चेष्टा करने लगी। उसकी इस चेष्टा को अधिकाधिक दिव्य व सौन्दर्यमयी बनाने के लिए ललित कलाओं का जन्म हुआ। ये कलाएँ निम्न रूपों में प्रस्फुटित हुईं।

(1) भवन निर्माण के रूप में वास्तुकला

(2) भावों को मूर्ति के रूप में प्रतिपन्न करने पर मूर्तिकला

(3) प्रकृति के दृश्यों को चित्रफलक पर उतारने पर चित्रकला

(4) शब्द तथा भाषा के माध्यम से भाव व्यक्त करने पर काव्यकला

(5) सप्त स्वरों के माध्यम से भाव व्यक्त करने पर संगीत कला।

भारत में प्राचीन समय में ललित कला नाम से कला कला का विभाजन नहीं था। 64 कलाओं को चारु तथा कारु नामक प्रकारों में रखा गया था। चौक पूरना, मेंहदी लगाना आदि चारु कलाएँ थीं तो सिलाई, काष्टकारी आदि कारु अथवा उपयोगी कलाएँ थीं। ताश, चौपड़, शतरंज आदि द्यूत क्रीड़ाओं को भी कला में स्थान प्राप्त था।

हीगल ने सर्व प्रथम ललित कला तथा उपयोगी कला नामक विभाजन किया। ललित कलाओं का विस्तृत वर्णन करते हुए हीगल ने कला के तीन वर्ग बताए हैं, ये वर्ग निम्न हैं—

(1) **प्रतीकवाद**—इसके अन्तर्गत हीगल ने वास्तुकला को रखा। दूर से ही दृष्टि पड़ने पर मन्दिर, मस्जिद अथवा गिरजाघर का भान होता है, जिसका आधार है प्रतीक। इसमें भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसमें स्थूल वस्तुओं को सुडौल आकृतियां दी जाती हैं।

(2) **शास्त्रीय**—मूर्तिकला को हीगल ने शास्त्रीय कला के अन्तर्गत रखा है। स्थूल वस्तु को चेतन मन की इच्छा के अनुसार उन्हें भिन्न आकृतियों—मानव, पशु, देवता अथवा अन्य वस्तुओं की आकृति में ढाला जाता है। इसमें वास्तुकला से अधिक भावाभिव्यक्ति की क्षमता है तथापि इसकी अपनी सीमाएँ भी हैं।

(3) **रोमानी**—किसी वस्तु या शारीरिक आकृति में पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती है अतः फलस्वरूप रोमानी कला की सृष्टि हुई। इसका आधार स्थूल पदार्थ न होकर भाव होते हैं। चित्रकला, संगीतकला व काव्यकला ऐसी ही कलाएँ हैं।

भौतिक साधनों की आवश्यकताओं के आधार पर इन ललित कलाओं को जो क्रम हीगल ने दिया वह क्रमशः निम्न से उच्च कोटि की ओर है। इस क्रम के अनुसार—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला का अपना यही स्थान है। हमारा विषय चूंकि संगीत है, अतः हम इन ललित कलाओं में संगीत का क्या स्थान है, इसका विश्लेषण करेंगे।

ललित कलाओं में संगीत का स्थान—

यह बात सर्वविदित है कि संगीत सभी कलाओं में प्राचीन है। जब मनुष्य ने भाषा नहीं सीखी थी तब भी किसी-न-किसी रूप में (अविकसित ही सही) संगीत था। आदि मानव भी अपने उद्‌गार, खुशी आदि गुनगुनाकर ही व्यक्त करता होगा। जिस प्रकार चिड़ियों को चहचहाना कोई नहीं सिखाता, पक्षी को उड़ना, शिशु को रोना-हँसना स्वतः आता है, उसी प्रकार मनुष्य को गुनगुनाना, गाना, नाचना स्वतः आता है; यह बात अलग है कि उसका रूप परिष्कृत न हो। अन्य कलाओं का जन्म बाद में हुआ, ऐसी कल्पना की जा सकती है। भौतिक सामग्री तथा उपकरण, उपयोगिता, प्रभाव क्षेत्र आदि के आधार पर हम इन कलाओं का स्थान तथा इनमें संगीत के स्थान को निश्चित कर सकते हैं। स्थान निर्णय के लिए निम्न तर्क आधार रूप में दिये जा सकते हैं—

(1) **भौतिक साधन तथा उपकरणों की आवश्यकता**—इस आधार पर देखने से कलाओं को क्रम में रखने में बहुत मदद मिलती है। वास्तुकला में ईंट, पत्थर, चूना, मिट्टी, लकड़ी आदि अनेक वस्तुओं तथा छैनी, हथौड़ा, खुरपी आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है। मूर्तिकला में साधन केवल पत्थर है या चूना प्लास्टर और उपकरणों में छैनी हथौड़ी। चित्रकला में कागज अथवा कैनवास के साथ तूलिका व रंगों की आवश्यकता होती है।

काव्य व संगीत के लिए केवल नाद व शब्द की। इस आधार पर वास्तु, मूर्ति, चित्र में स्थूल साधनों की आवश्यकता क्रमशः अधिक से कम की ओर है। काव्य व संगीत में इनकी कोई आवश्यकता नहीं, अतः ये तीनों से श्रेष्ठ हैं। काव्य में भाषा के साथ नाद भी रहता है, जबकि संगीत में केवल नाद ही प्रधान है। अतः संगीत का स्थान श्रेष्ठ है।

(2) **चल अचल के आधार पर**—कला की श्रेष्ठता का एक मापदण्ड है, उसका अधिकाधिक लोगों पर प्रभाव हो। स्थापत्य कला ऐसी कला है जो पूर्ण रूप से स्थिर है, अचल है। भवन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। अतः स्वाभाविक है कि उसे हर एक व्यक्ति देखे या आनन्दित हो, यह संभव नहीं। विश्व में अनेक लोगों ने, यहां तक कि भारत के ही अनेक लोगों ने, ताजमहल नहीं देखा है, अतः वे उसके सौन्दर्य दर्शन से वंचित हैं। मूर्ति कला में यदि मूर्ति छोटी हो तभी उसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना सम्भव है फिर भी उसमें खण्डित होने का भय रहता है। कुछ मूर्तियां अपनी विशालता के कारण ही अनुपम हैं, इन्हें भी स्थिर व अचल रखा जाता है, बाहुबलि तथा अजन्ता की अनेक मूर्तियाँ इसका उदाहरण है। इन दोनों कलाओं का प्रभाव सर्वस्थानिक नहीं हो सकता। देलवाड़ा का मन्दिर, रामेश्वरम्, नाथद्वारा आदि के मन्दिर ऐसे ही उत्कृष्ट नमूने हैं जिनको देखना सभी भारतीय लोगों के लिए संभव नहीं है तो विश्व के लोगों की क्या बात की जाय।

चित्रकला पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायी जा सकती है, परन्तु उसका अवलोकन भी बहुत कम लोग ही करने जाते हैं तथा कर पाते हैं। काव्य तथा संगीत ऐसी कलाएँ हैं जो चल हैं तथा किसी भी स्थान अथवा समय पर पेश की जा सकती हैं। रेडियो, टेप, टी.वी. के माध्यम से इनका आनन्द सभी लोग तथा घर बैठे उठा सकते हैं और अधिक सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होता है कि संगीत का प्रभाव अधिक सरल व व्यापक रूप से पड़ता है, क्योंकि इसमें भाषाज्ञान, शिक्षाज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। अतः संगीत श्रेष्ठ है।

(3) **नवीनीकरण**—चूंकि समय परिवर्तनशील है और भिन्न व्यक्तियों की रुचियाँ व कल्पनाएँ भिन्न होती हैं। कौनसी कला समय व परिस्थिति के अनुसार बदलने की क्षमता कितनी रखती है, यह भी विचारणीय है। स्थापत्य अथवा वास्तुकला में एक बार जो भवन (मन्दिर, राजभवन, स्मृति भवन) एक बार बनाया जाता है उसे बार2 तोड़कर बनवाना संभव नहीं है। मूर्ति-कला में यदि मूर्तिकार को कोई नवीन कल्पना उपजे तो वह बनी हुई मूर्ति में उसे

उतार नहीं सकता वरन् उसे दोबारा नयी मूर्ति बनानी पड़ेगी। यही बात चित्रकला पर भी लागू होती है। इन्हें दोबारा बनाने में अर्थ व्यय करना पड़ता है। काव्य व संगीत में एक ही विषय पर समय-समय के कवियों ने अपनी कल्पना व शैली के द्वारा उसे नवीन रूप दिया। संगीत में एक ही राग को अनेक गायक वादक गाते-बजाते हैं, सभी कल्पना द्वारा उसे नवीनता प्रदान करते हैं। क्या हर मूर्तिकार बाहुबलि मूर्ति में अपनी कल्पना को उतार सकता है अथवा वास्तुकार ताजमहल में अपनी कल्पना से उसे नवीनता दे सकता है? नहीं दे सकता। अतः संगीत व काव्य दोनों ही इस दृष्टि से बिना किसी बाधा के नवीन रूप धारण करते हैं।

(4) **प्रभाव की दृष्टि से**—प्रभाव के क्षेत्र के आधार पर देखें तो वास्तुकला, मूर्तिकला व चित्रकला का प्रभाव केवल मनुष्य तक सीमित है। पशु-पक्षी व जड़ वस्तुओं पर इनका कोई प्रभाव नहीं होता। एक गाय या घोड़े के लिए अस्तबल के रूप में स्थान का महत्व है, वही महत्त्व लाल किले या ताजमहल का है, वे उस स्थान पर भी मल-मूत्र त्याग देंगे। क्योंकि उन पर इन कृतियों की सुन्दरता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। काव्य का प्रभाव भी केवल मनुष्य तक सीमित है, लेकिन उसके लिए शिक्षित होना तथा भाषा ज्ञान होना जरूरी है। इस दृष्टि से काव्य का स्थान उक्त तीन कलाओं से नीचे का है। गुप्त जी की अथवा प्रसाद जी की कविताएँ अशिक्षित व्यक्ति अथवा हिन्दी भाषा के ज्ञान से रहित किसी विदेशी को सुनाएँ तो उन्हें कुछ समझ में नहीं आएगा, जबकि वे किसी भवन, मूर्ति अथवा चित्र को देखकर उसे सराह सकते हैं। संगीत का प्रभाव सम्पूर्ण मानव जाति, पशु-पक्षी व प्रकृति पर पड़ता है, अर्थात् जड़, चेतन सभी संगीत द्वारा प्रभावित होते हैं।

(5) **भावाभिव्यक्ति की शक्ति**—सभी कलाएँ मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति होती हैं। अतः जो कला अधिक से अधिक भावों की अभिव्यक्ति करने में सक्षम है, वही कला श्रेष्ठ है। वास्तुकला में सबसे कम भावों की अभिव्यक्ति संभव है। निश्चित नक्शे व योजना के अनुसार निर्माण कार्य किया जाता है, अतः स्थूल रूप ग्रहण करता है। सूक्ष्म भावों को उसमें दिखाया नहीं जा सकता। इससे कुछ अधिक स्वतंत्रता मूर्तिकार को होती है। वह अपने कुछ भाव उसमें दर्शा सकता है। परन्तु स्थूल होने के कारण सूक्ष्म भाव दर्शाना उसमें भी संभव नहीं है। मूर्तिकारों ने अनेक नृत्य मुद्राओं, वाद्यों को मूर्तिकला में स्थान देकर अमर किया है पर भावाभिव्यक्ति में वह पूर्ण सक्षम नहीं है। चित्रकला में रेखाओं व रंगों के माध्यम से इन दोनों की अपेक्षा अधिक भावों की अभिव्यक्ति हो सकती है। चित्रकला ने संगीत को

अनेक रागचित्रों के माध्यम से साकार रूप दिया है तथापि स्थान, काल, सामग्री की सीमाएँ उसमें हैं। एक चित्र में प्राय: एक ही भाव की प्रधानता होती है, जबकि काव्य व संगीत में एक ही समय में भिन्न भाव दर्शाए जा सकते हैं। जैसे नृत्य में कृष्ण की गोपियों से छेड़छाड़, माता से शिकायत करने पर यशोदा का क्रोध करना, कृष्ण का डरना, रूठना, माता का स्नेह, ममता, सभी सूक्ष्म भाव दिखाए जाते हैं। इसी प्रकार काव्य में भी संभव है। इस प्रकार काव्य व संगीत दोनों ही भावाभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम हैं। अत: श्रेष्ठता का मुकाबला काव्य तथा संगीत, इन दो कलाओं में ही मूल रूप से है।

काव्य तथा संगीत की तुलना—

चूंकि काव्य का आधार शब्द है तथा शब्द एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिससे व्यक्ति भावों को, इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है। इस बात को कोई नकार नहीं सकता कि दैनिक कार्यों में सर्वाधिक योग भाषा का होता है। यही कारण है कि कुछ विचारक काव्य को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला मानते हैं। हीगल, श्यामसुन्दरदास, शुक्लजी तथा प्रसादजी इसी श्रेणी के विचारक हैं।

आचार्य शुक्ल तथा प्रसादजी ने काव्य के पक्ष में कहा है कि प्राचीन समय में 'विद्या' तथा 'उपविद्या' नामक एक विभाजन था और प्राचीन आर्यों ने काव्य को 64 कलाओं में नहीं रखा था, वह विद्या माना जाता था। जबकि 64 कलाएँ उपविद्या कहलाती थीं और संगीत कला होने के कारण उपविद्या था। अत: काव्य को संगीत से श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। इसके अतिरिक्त काव्य के पक्ष में ये विचारक कहते हैं कि काव्य बाह्य तथा आंतरिक दोनों ही परिस्थितियों का सफल चित्रण करने में सक्षम है। भावों के साथ-साथ घटनाओं तथा पदार्थों की सजीव अवतारणा इसमें संभव है।

शुक्ल जी के मतानुसार—"सर्वश्रेष्ठ मानव भावना कोमल भावना है, जिसकी अभिव्यक्ति काव्य ही कर सकता है।"

उपरोक्त तर्क में कही गयी बातें असत्य नहीं हैं, काव्य में बहुत शक्ति होती है पर इस कारण वे संगीत के प्रभाव को गौण स्थान दें, यह उचित नहीं है। संगीत की अपनी विशेषता है, उसका विस्तृत प्रभाव क्षेत्र है, अत: उसके प्रभाव को हमें कम नहीं समझना चाहिए। काव्य में भी नाद (संगीत), चाहे कम स्वरों का प्रयोग हो पर प्रयोग होता है। काव्य की सार्थकता व

प्रभावकारिता उसके गेय रूप में है पर संगीत शब्दों के अधीन नहीं है। संगीत कला का सबसे सूक्ष्म माध्यम है।

उपरोक्त विचारधारा के अलावा एक अन्य विचारधारा है, जिसमें काव्यकला तथा संगीतकला दोनों को समान श्रेणी का मानते हैं। इस मत के अनुसार काव्य तथा संगीत दोनों का आधार नाद है। अन्तर केवल यह है कि जब नाद संगीत प्रधान (स्वर-प्रधान) हो तब संगीत है और जब वह भाव (शब्द) प्रधान हो तब काव्य होता है। काव्य में यदि सांगीतिक लय (धुन, उतार-चढ़ाव) न हो तो वह भाषण मात्र होगा। यही कारण है कविता और निबन्ध तथा अकवित्वपूर्ण सामग्री को पद्य तथा गद्य नामों से जाना जाता है। काव्य में संगीत सम्मिलित है। इसी तरह संगीत में शब्द मिले रहते हैं। गीत, नृत्य, तबले अथवा पखावज के बोल, नोम तोम चाहे अर्थहीन हों पर शब्द हैं। अतः दोनों में दोनों हैं।

पंतजी ने कहा है—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।

उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान ।।

संस्कृत साहित्य में संगीत, काव्य, दोनों को 'सरस्वती के स्तनद्वय' कहा गया है। दोनों की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है, अतः दोनों की श्रेष्ठता समान है।

मिल्टन ने कहा है कि 'काव्य तथा संगीत परस्पर बहिनें हैं।'

संगीत का सर्वश्रेष्ठ स्थान —

उपरोक्त दोनों मतों के विश्लेषण के उपरांत भी संगीत की श्रेष्ठता को स्वीकार करना ही पड़ता है। संगीत का ललित कलाओं में सर्वोच्च स्थान है, इसे सिद्ध करने के लिए हम संगीत के पक्ष में निम्न तर्क दे सकते हैं। वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकला से उच्च स्थान काव्यकला व संगीतकला का है, इसका विश्लेषण हम पहले ही कर चुके हैं। अतः यहां हम काव्य व संगीत की तुलना करेंगे। निम्न तर्क संगीत को, काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

(1) **सम्पूर्ण जगत प्रभावित**—काव्य का प्रभाव केवल मनुष्य मात्र पर पड़ता है, सम्पूर्ण प्राणि जगत पर नहीं तथा जड़ पर तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत संगीत का प्रभाव मनुष्य के अतिरिक्त पशु-पक्षी, वृक्ष, पाषाण सभी पर होता है। तानसेन, बैजू-बावरा के उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं। गायों द्वारा अधिक दूध दिए जाने तथा पौधों की

अच्छी बढ़त पर संगीत के प्रभाव के सफल प्रयोग किये जा चुके हैं। डाक्टर अनेक रोगों की चिकित्सा (मनोरोग पर) में संगीत का सहारा लेते हैं। अतः सम्पूर्ण प्रकृति, जगत संगीत से प्रभावित है।

(2) **शिक्षा तथा भाषा की बाधा**—भाषा तथा शिक्षा की बात के कारण काव्य के प्रभाव की सीमा और भी संकुचित हो जाती है। काव्य के प्रभाव की एक बाधा है, भाषा। यदि भाषा (जिस भाषा में काव्य है) का ज्ञान अथवा समझ नहीं है तो श्रोता अथवा पढ़ने वाला उसे समझेगा ही नहीं तो उसका प्रभाव भी नहीं पड़ेगा। बहुत-सी गजलें तथा शेर ऐसे होते हैं, जिन्हें हम शब्दों के अर्थ से अनभिज्ञ होने के कारण समझ नहीं सकते। यदि मद्रास में (रामचरित मानस) का पाठ किया जाय तो हिन्दी का ज्ञान न होने के कारण वे उसकी न महिमा समझेंगे, न उसमें निहित सन्देश। जबकि अन्य प्रदेश का लोक अथवा अन्य देश का संगीत (शास्त्रीय) प्रस्तुत किया जाय, उसे वे नहीं समझेंगे, फिर भी उसकी स्वर-लहरियों से आनन्दित अवश्य होंगे। यही कारण है कि संगीत (गायन वादन) के कार्यक्रम विदेशों में भी पसन्द किए जाते हैं और सफल होते हैं। अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि संगीत का प्रभाव सर्वदेशीय तथा सर्वकालिक है।

दूसरी ओर देखें तो भाषा समझ में आने पर भी काव्य को समझना हर एक के बस का नहीं होता। काव्य में इतने क्लिष्ट शब्द व गुप्त अर्थ होता है कि सर्व साधारण के लिए समझना मुश्किल होता है। नीरज, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रसादजी, महादेवी वर्मा आदि के काव्य उच्च श्रेणी के हैं पर कितने हिन्दी भाषी उन्हें समझ सकते हैं, यह सभी को ज्ञात है। कम पढ़े-लिखे लोगों को भी उनकी रचनाएँ समझ में नहीं आती हैं तो अशिक्षितों के बारे में क्या कहा जाय। इसके विपरीत संगीत की रचना कितनी ही क्लिष्ट हो, आम व्यक्ति यह तो नहीं समझेगा कि कौनसी राग है, कौनसी ताल है, कौनसे स्वर कोमल अथवा शुद्ध लगे, परन्तु सांगीतिक ध्वनियों, स्वर लहरियों, वादक तबले की संगत अथवा गायक तबले की संगत से आनन्दित अवश्य होगा। अरस्तु ने कहा है—"संगीत ध्वनियों के आरोह, अवरोह के माध्यम से मस्तिष्क को झंकृत करता है।" अतः ध्वनि का प्रभाव स्वाभाविक व अनिवार्य रूप से पड़ता ही है। यही कारण है कि संगीत का प्रभाव मूर्ख-विद्वान, शिक्षित-अशिक्षित, भाषी-विभाषी, पशु-मानव सभी पर पड़ता है।

(3) **अध्यात्म से सम्बन्ध**—भारतीय विचारधारा के अनुसार सभी कलाएँ अध्यात्म की ओर उन्मुख हैं तथा कलाओं का अन्तिम उद्देश्य अध्यात्म तत्त्व की प्राप्ति है और आत्मतत्त्व में लीन होना है। इस ओर

संगीत का अपना विशेष स्थान है। ईश्वर भक्ति की, आत्मज्ञान से परिपूर्ण, जीवन की सच्चाई के सम्बन्ध में अनेक रचनाएँ (काव्य रूप) हमें मिलती हैं, परन्तु वे सभी गेय रूप में हैं। मीरा इकतारे व करताल के साथ प्रभु-ध्यान में लीन होकर गाती थीं। सूर, तुलसी, समस्त अष्टछाप कवि, दादू, कबीर, त्यागराज की रचनाएँ गेय रूप में प्रस्तुती थीं। सोचकर केवल कविता रूप में इनकी रचनाएँ नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त संगीत से आत्मा पवित्र हो जाती है, उसमें नैतिकता, दया आदि गुणों का विकास होता है। प्लैटो ने कहा है "संगीत के माध्यम से आत्मा लय सीख जाती है, संगीत चरित्र बनाता है, उसमें धर्म की प्रवृत्ति आ जाती है, वह कभी अन्याय कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह स्वर-लहरी में बँधा रहता है।"

संगीत की स्वर अथवा नाद साधना नाद ब्रह्म प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है और योग-प्राणायाम से इसका सीधा सम्बन्ध है, जो ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। भक्ति योग (मोक्ष प्राप्ति का मार्ग) पूर्ण रूप से भजन-संगीत पर आधारित है। अत: संगीत आध्यात्मिकता से जुड़ा है।

(4) **केवल नाद महत्त्वपूर्ण**—संगीत तथा काव्य दोनों में नाद महत्त्वपूर्ण है। जो विचारक यह मत रखते हैं कि संगीत शब्द के बिना पंगु है, वे यह भूल जाते हैं कि वाद्य संगीत में कोई शब्द नहीं होते और उसका प्रभाव और आनन्द भी उतना ही होता है जितना कि किसी गीत का अथवा कण्ठ संगीत का। आजकल तो वाद्य संगीत स्वतंत्र रूप से इतना अधिक विकसित, उन्नत हो गया है कि गले की सभी हरकतें उसमें दिखाई जाती हैं, साथ ही यह भी देखा गया है कि वाद्य संगीत को लोग अधिक पसन्द करते हैं। कण्ठ संगीत में भी बंदिश के अतिरिक्त अलाप, तानें आदि शब्दहीन होती हैं। फिर संगीत में स्वर लहरी ही विशेष महत्त्व की होती है। इसके विपरीत काव्य पाठ यदि ससंगीत (गीत के रूप में) न हो तो उसका प्रभाव ही आधा रह जाता है। जो कवि अपनी रचना का अगेय रूप में पाठ करते हैं वे भी उसे जिस उतार-चढ़ाव के साथ गाते हैं वह भी कम स्वरों में एक प्रकार से लय मय गायन होता है। यही कारण है कि राष्ट्रगीत, भक्ति गीत, वन्दना, प्रणाय सम्बन्धी रचनाएँ गायी जाती हैं, पढ़ी नहीं जातीं।

(5) **भावाभिव्यक्ति**—कुछ लोगों की यह मान्यता है कि शब्द ही भावों को व्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम है, जबकि वास्तव में जहां भाषा पंगु हो जाती है, वहां भी संगीत (स्वर) काम आता है। यही कारण है कि जन्म, विवाह, खुशी, दुख, यहां तक की मृत्यु पर भी लोक जीवन में संगीत

व्याप्त है। प्रीट ने कहा है—"भाव, जो हम अनुभव करते हैं, संगीत उसे ही ध्वनि द्वारा प्रकट करता है।" साथ-साथ संगीत जीवन में स्फूर्ति लाता है, निराशा का अन्त कर नयी चेतना भरता है। अतः भावों की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम संगीत है।

(6) **आनन्दानुभूति**—आनन्दानुभूति को दूसरे शब्दों में हम रसानुभूति भी कह सकते हैं। काव्य में भी रसानुभूति बहुत हद तक सम्भव है। यह भी कह सकते हैं कि काव्य में सभी रसों (9 रस) की निष्पत्ति सम्भव है, जबकि संगीत में वीभत्स, घृणा, भय तथा रौद्र आदि रसों की निष्पत्ति नहीं की जा सकती है। लेकिन रस को और रसानुभूति को जब हम अन्तिम रूप में आनन्द से जोड़ते हैं तब संगीत में भी उसी आनन्द की प्राप्ति होती है। रसोद्रेक की पूर्णता चिर आनन्द में है और संगीत से यह आनन्द प्राप्त होता है। रस निष्पत्ति से भी आगे की स्थिति संगीत में होती है। श्रोता कौनसा रस है, कौनसा राग है, इसे न सोचकर उसमें इतना लीन हो जाता है कि वह केवल विशुद्ध आनन्द प्राप्त करता है और झूमता है। यही स्थिति आनंदानुभूति की है, जिसमें न भाषा, न प्रान्तीयता, न देश-विदेश की कोई सीमा व बाधा रहती है, न ही शिक्षा की।

(7) **गतिशील कला**—संगीत की अपनी एक विशेष विशेषता है कि वह एक गतिशील कला है। इसमें कृति बनती जाती है और आनन्द आता रहता है। जबकि अन्य कलाओं में जब तक कृति पूर्ण न हो जाय, आनन्द देने तथा भाव दर्शाने में समर्थ नहीं होती। लेकिन संगीत तानपुरा अथवा वाद्य के छिड़ते ही और षड्ज लगते ही आनन्दित करना शुरु कर देता है। राग का एक आलाप वातावरण तैयार कर देता है और उसके बाद हर step आनन्दानुभूति कराता है। जबकि काव्य में रचना पूर्व रचित होती है। संगीत की इसी विशेषता के कारण इसे 'Moving Art' कहा गया है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर हम कह सकते हैं कि संगीत का स्थान कलाओं में सर्वोच्च है। वाल्टर पैटर ने तो यहां तक कहा है "जितनी भी कलाएँ हैं वे सब संगीत की ओर उन्मुख हैं।" संगीत से हमें तत्क्षण आनन्द मिलता है। संगीत की सर्वोच्चता के पक्ष में शॉपन हार्क ने कहा है—"Music is the highest art which gives us abandon, where the will to live is silenced. It is the vehicle of religious and mistical experience."

अतः हम कह सकते हैं कि संगीत श्रेष्ठतम कला है, उसकी श्रेष्ठता निर्बाध है। अपने प्रभाव की व्यापकता, सूक्ष्मता, महत्ता के कारण ललित

कलाओं रूपी आकाश का ध्रुव तारा संगीत है। लौकिक तथा अलौकिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करने तथा प्रदान करने की जितनी शक्ति संगीत में है, उतनी अन्य कलाओं में नहीं है। स्वर व लय का प्रभाव इतना सशक्त होता है कि सृष्टा व श्रोता दोनों को ही उस आनन्द सागर में हिलोरें लेने के लिए बाध्य कर देता है। स्वर साँचों की योजना चाहे मानव कण्ठ से प्रस्फुटित हो अथवा वाद्य से, बिना किसी साहित्य का आश्रय लिए पशु-पक्षी, मानव-देवता, मूर्ख-विद्वान, सम्पूर्ण जड़-चेतन को अपने प्रभाव में बांधने की क्षमता रखती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जहां स्थापत्य व मूर्ति कला में विषयरूप सौन्दर्य होता है, चित्रकला में चाक्षुक सौन्दर्य, काव्य में कल्पना का प्रामुख्य, वहीं संगीत में प्रेषणीयता होती है। संगीत एक हृदय से दूसरे हृदय को छूता है। अतः संगीत उत्कृष्टतम कला है।

अध्याय 3

कला के उद्देश्य

कला का उद्भव क्यों हुआ, कला का उद्देश्य क्या है, उसका जीवन में क्या महत्त्व है आदि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर अनेक विचारकों, दार्शनिकों तथा कलामीमांसकों ने अपने मत दिये हैं। मानव की सुन्दरतम अभिव्यक्ति कला है, यह तो सभी विचारक मानते हैं परन्तु वैचारिक भिन्नता, स्थान व समय भेद के कारण हमें अनेक मत मिलते हैं। ये विचारधाराएँ मुख्य रूप से हम दो भागों में बांट सकते हैं—पाश्चात्य विचारधारा तथा भारतीय विचार-धारा।

पाश्चात्य विचारधारा

'पाश्चात्य विचारधारा' इस नामकरण के कारण यह नहीं समझना चाहिए कि सम्पूर्ण पाश्चात्य देशों की कला के सम्बन्ध में समान राय है। पाश्चात्य विचारकों में भी कला के सम्बन्ध में विचार वैभिन्य है, इस विभिन्नता के कारण अलग-अलग मत मिलते हैं। अतः भिन्न विचारकों ने कला के उद्देश्य अथवा प्रयोजन भी भिन्न बताए हैं। ये उद्देश्य निम्न शीर्षकों में देखे जा सकते हैं—

(1) **कला, कला के लिए**—इस मत के प्रवर्त्तक ए. सी. ब्रैडले, क्रोचे, वॉल्टर, आस्कर व्हाइट, जे. ई. स्पिनगार्न आदि हैं। इनके अनुसार कलाकार का लक्ष्य केवल कलात्मक अभिव्यक्ति या सौन्दर्य की सृष्टि करना है। अतः कलाकार की कृति अथवा कला का नीति, धर्म, उपदेशों के प्रतिपादन से कोई सरोकार नहीं होता।

(2) **कला, जीवन के लिए**—इस श्रेणी के विचारकों का मत है कि कला केवल सौन्दर्य की मूर्ति मात्र न हो वरन् उसे उपयोगी व कल्याणकारी होना चाहिए। कला वह है जो जीवन को दिशा दे, उसे ऊँचा उठाए, शिव हो व आदर्श हो, जीवन में कला की कोई सार्थकता हो। टाल्सटाय इसी मत के अनुयायी थे।

(3) **कला, जीवन से पलायन के लिए**—जो व्यक्ति जीवन से निराश हों, असफलता के शिकार हों, अपंग (विकलांग) हों, अन्य कार्यों में असमर्थ

हों, कला उन्हें सहारा देती है। जीवन की सच्चाइयों, कठिनाइयों तथा कड़वाहट का अनुभव, जो सहन नहीं कर सकते, वे कला का ही सहारा लेते हैं। इस मत के प्रमुख प्रवर्त्तक टी.सी. इलियट हैं जो 20 वीं शताब्दी के अंग्रेज समीक्षक हैं, इनके अनुसार—"अपने व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं अपितु उससे पलायन कला है।"

(4) **कला, अभिव्यंजना के लिए**—इटली के प्रसिद्ध कला मीमांसक क्रोचे रहे हैं। उन्होंने ही इस अभिव्यंजनावाद का विचार दिया। उनके अनुसार इस अभिव्यंजना का आधार मनुष्य की सहजानुभूति है। प्रत्येक सहज अनुभूति अभिव्यंजना है और प्रत्येक अभिव्यंजना कला है। क्रोचे के अनुसार "व्यक्ति का प्रकाशन चित्र, शब्द या संगीत किसी भी रूप में क्यों न हो, सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई-न-कोई रूप ढूँढ़ ही लेती है। वस्तुत: अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है।"

(5) **कला और विरेचन**—अरस्तू ने सर्वप्रथम 'विरेचन' शब्द का प्रयोग किया। विरेचन शब्द चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित है। प्लैटो ने आक्षेप लगाया कि "कलाओं द्वारा हमारी दूषित वासनाएँ और मनोवृत्तियाँ उत्तेजित व पुष्ट होती हैं। अरस्तू ने इस मत का खण्डन किया और कहा—"कला व साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप में 'विरेचन' अर्थात् 'शुद्धि' या 'निष्कासन' हो जाता है।" कला का प्रयोजन उन मनो-वृत्तियों को शुद्ध करना है, न कि उन्हें बलवति करना।

(6) **कला और संप्रेषण**—इस मत के प्रतिपादक आई. ए. रिचर्ड्स हैं। कलाओं का सम्बन्ध कलाकृति की संप्रेषण क्रिया और उसके मूल्य से विशेष रूप से रहता है। रिचर्ड्स के अनुसार "Arts are the supreme form of the communicative activity." संप्रेषण का अर्थ है, दृष्टा अथवा श्रोता का कलाकार के भाव व कृति से प्रभावित होना। यदि कला का लक्ष्य संप्रेषण न होता, कलाकार कोई भी कृति किसी के समक्ष न लाता, उसे नष्ट कर देता। कलाकार कल्पना द्वारा अपनी कृति को अधिकाधिक संप्रेषणीय बनाता है।

(7) **कला, आनन्द के लिए**—कला का एक लक्ष्य है कि वह कलाकार तथा दृष्टा-श्रोता को आनन्दानुभूति अथवा रसानुभूति कराए। यह आनन्द ही आत्मिक आनन्द होता है, जिसे ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है। इसीलिए कला का सौन्दर्यमयी होना आवश्यक है।

(8) **कला, मनोरंजन के लिए**—लौकिक आनन्द अर्थात् मनोरंजन भी कला का एक प्रयोजन है। संगीत, काव्य, चित्रकला अथवा मूर्ति निर्माण के

समय कलाकार मानसिक तनाव तथा थकान से मुक्ति पाता है। दृष्टा व श्रोता भी इन कलाओं द्वारा अपनी थकान मिटाकर इन कलाओं द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं।

(9) **कला, सृजन की अदम्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए**—कुछ व्यक्तियों में कलात्मक प्रवृत्ति ईश्वरीय देन के रूप में होती है। उनके भाव इतने प्रबल होते हैं कि वे उनकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं, तब वे अपनी योग्यता, भावों को कला के रूप में व्यक्त करते हैं। बहुत छोटी उम्र के बच्चे जब सुन्दर चित्र बनाते हैं अथवा अच्छी कविता कर लेते हैं, वे इसी श्रेणी में आते हैं।

(10) **कला, सेवा के लिए**—कला की सार्थकता इसमें भी है कि वह किसी-न-किसी रूप में समाज व व्यक्ति के लिए कल्याणकारी हो। कला को हमेशा से एक सन्देशवाहिका के रूप में प्रयोग में लाया गया है। भवन निर्माण रहने के लिए उपयोगी है तो चित्रकला व काव्य द्वारा समाज सुधार, बुराइयों के कुप्रभाव आदि दिखाकर समाज को दिशादान कर अच्छाइयों की ओर प्रेरित किया जा सकता है। राष्ट्रीय एकता व नैतिकता का सन्देश भी दिया जाता है। संगीत द्वारा मनोरोगों की चिकित्सा की जाती है। अतः किसी-न-किसी रूप में कला को व्यक्ति के लिए कल्याणकारी व उपयोगी होना चाहिए।

भारतीय दृष्टिकोण

केवल कला ही नहीं, सम्पूर्ण जीवन के प्रति भी भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकोण से सदा से भिन्न रहा है। इस भिन्नता का कारण है, अन्तःकरण की भिन्नता। पाश्चात्य लोग कलाकार पहले हैं व दार्शनिक बाद में। वे हर वस्तु, विचार को बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक रूप से आंकते हैं। वे स्थूल के आधार पर सूक्ष्म की खोज करते हैं, जबकि भारतीय विचारधारा सूक्ष्म की तह तक जाकर स्थूल की ओर लौटती है। भारत चूंकि हमेशा से अध्यात्म व धर्म प्रधान देश रहा है, अतः आत्मिक सुख व आत्मा को पहचानने पर विशेष महत्त्व दिया है। अतः कला के प्रति दृष्टिकोण भी अध्यात्म से ओत-प्रोत होना स्वाभाविक है। यहाँ कलाओं का दृष्टिकोण 'अन्तिम लक्ष्य' (आत्मबोध या आत्मलीन) की प्राप्ति है और पद्धति धार्मिक व दार्शनिक है। इसके विपरीत पाश्चात्य में दृष्टिकोण उपयोगितावादी और पद्धति भौतिक-वैज्ञानिक है। भारतीय कलाओं में, आत्मा का परमात्मा से मिलने की इच्छा से जीवन स्पंदित होता है। कलाकार कृति के सहारे

सांसारिकता से परे आध्यात्मिक सुख व शांति का आनन्द प्राप्त करता है। कलाएँ मानव को मोक्ष प्रदान करती हैं। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ हैं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनमें अर्थ व काम निम्न श्रेणी के हैं तथा धर्म व मोक्ष उच्च श्रेणी के। कलाएँ इन्हीं की ओर उन्मुख हैं।

बुद्धि से सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता, इसलिए अनुभूति को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है और यह अनुभूति कलाओं के द्वारा होती है। उस परमतत्त्व की खोज और उसका दर्शन ही भारतीय विचारधारा का मूल रहा है। यही कारण है कि सभी कलाएँ, विद्याएँ, शास्त्र उसी (सच्चिदानंद, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, चैतन्य आदि नामों से अभिहित) एक परमतत्त्व की ओर अग्रसर हैं। सभी कलाएँ आत्म-साक्षात्कार की साधन हैं। यही कारण है कि प्राचीन समय से ही कलाओं और धर्म (ईश्वर) में गठ-बन्धन रहा है। वास्तुकला के सुन्दरतम नमूने मन्दिरों के रूप में प्राप्त हैं। मूर्ति तथा चित्रकला में देवी-देवता अथवा महापुरुषों का बाहुल्य रहा है। अनेकों काव्य ईश्वरोपासना अथवा भक्ति प्रधान हैं। इसी प्रकार संगीत की तो उत्पत्ति ही शिव व सरस्वती आदि से मानी जाती है। उसका प्रयोग हमेशा ईश्वरस्तुति, मंत्रों तथा भक्तिगायन में होता था, नृत्य सबसे पहले मन्दिरों में ही होता था।

भारतीय विचारधारा के अनुसार कला प्रकृति के बहुत निकट रहती है, परन्तु दृश्यमान जगत सदा सत्य नहीं होता, अतः बाह्य आवरण को भेदकर मूल रूप को प्राप्त करना ही कला का कार्य है। कला का ध्येय है, निस्सीम को प्राप्त करना। चाहे पत्थरों पर खुदाई हो अथवा तूलिका से बना चित्र, अथवा संगीत के स्वरों की साधना या साहित्यिक प्रतीकों का आश्रय, भारतीय कला में सर्वदा सत्य का दर्शन करने का प्रयत्न रहता है।

कला के प्रमुख दो ध्येय सत्य तथा एकता हैं। इन्हीं के कारण भारतीय कलाएँ आदर्शवादी, चारित्रिक-विलक्षणता, रहस्यवाद, प्रतीकवाद तथा पारलौकिकता प्राप्त हैं।

कालीदास ने कला के निम्न प्रयोजन बताए हैं—

(1) कला देवों को प्रसन्न करती है।

(2) कला मनुष्य के आचरण से सम्बन्धित है और जीवन के सुख-दुःख को व्यक्त करती है।

(3) कला अनेक रसों की अभिव्यक्ति करती है, जिसके कारण यह कलाकार को विविध प्रकार का पारलौकिक आनन्द प्रदान करती है।

(4) कला व्यापक आनन्द प्रदान करती है। कला के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नहीं है जो युवा तथा वृद्ध, सुखी-दुखी, रोगी-पीड़ित, स्वस्थ-सबल

सभी को समान रूप से आनन्द पहुंचा सके।

कला के इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण ही कला में निहित सौंदर्य व उससे प्राप्त आनन्द (रस) के प्रति भी भारतीय विचारधारा पाश्चात्य विचारधारा से भिन्न है, आध्यात्मिकता का पुट लिए है।

कला से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आत्मिक आनन्द होता है। यही कारण है कि उस आनन्द अथवा रस को 'रसौवेस:' कहा गया है। इस आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है—

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाश नन्द चिन्मय: ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मा स्वाद सहोदर: ।।
लोकोत्तर चमत्कार प्राण: कैश्चित्प्रभातृभि: ।
स्वाकारवद भिन्नत्वे नाय मास्वाद्यते रस: ।।

भारतीय विचाधारा के अनुसार कला केवल वैयक्तिक आत्म-प्रदर्शन के लिए नहीं है वरन् वह समूची संस्कृति की द्योतक होती है। वह देवताओं की सांकेतिक भाषा है, वह देवताओं की संदेशवाहिका है। यही कारण है कि भारतीय कलाएँ निर्वैयक्तिक हैं। विशाल मन्दिरों, मूर्तियों के शिल्पी तथा भित्ती चित्रों के चित्रकारों के बारे में हम नहीं जानते, क्योंकि कलाओं का प्रयोजन व्यक्तित्व की महिमा बताना नहीं है।

प्रसिद्ध यूनानी कला महर्षि पर्सी ब्राउन के अनुसार—"यूनानियों की वास्तुकला की विशेषता इनकी प्रौज्ज्वलता व पूर्णता रही है। रोमन भवन अपनी वैज्ञानिक रचना के लिए प्रसिद्ध है। फ्रैंच गोथिक कला में भावुक बुद्धि एवं सद्‌भावना दर्शनीय है। ठीक इसी प्रकार भारतीय वास्तुकला की सर्व-प्रथम विशेषता इसकी अध्यात्म निष्ठा में निहित है।"

संक्षेप में, समस्त कलाओं का सार उस परमात्मा से साक्षात्कार करना है या उसकी खोज करना है, केवल उसके माध्यम भिन्न हैं। नंदलाल के अनुसार "सभी शिल्पों का लक्ष्य एक है। कवित्, मूर्ति, चित्र, नृत्य, गान की आध्यात्मिक साधना में सृष्टि के सारे वैचित्र्य के अन्तराल में ऐक्य को ढूँढ़ना है। सभी कलाएँ ठीक उसी प्रकार उस एक विराट् के दर्शन को लेकर चल रही हैं।"

भारत में भी कला को मनोरंजन; अर्थप्राप्ति, यशप्राप्ति के साधन के रूप में समय-समय पर देखा गया पर ऐसी कलाएँ निम्न कोटि की मानी जाती रही हैं। कला का प्रयोजन जिस प्रकार का होता है, कला वैसा ही रूप धारण कर लेती है। जब कला का उद्देश्य आत्मानुभूति होता है, तब आत्मा पर चढ़ी धूल (काम, क्रोध, लोभ, मोह) हट जाती है। तानसेन तथा श्री

गोविन्दस्वामी और हरिदासस्वामी के संगीत में यही अन्तर था। एक में बौद्धिक आनन्द था तो दूसरे में आत्मिक आनन्द। कला को साध्य न मानकर अन्तिम लक्ष्य (उस परम तत्त्व की प्राप्ति) की प्राप्ति का साधन माना है। साथ ही अभिव्यक्ति के माध्यम अथवा साधन के रूप में भी भारतीय विचारक कला को स्वीकारते हैं। इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओं में भिन्नता पाई जाती है।

अध्याय 4

कला के आदर्श एवं संगीत

पिछले अध्यायों में हमने कला के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त की। कला क्या है ? उसके आवश्यक तत्त्व, उसके विभिन्न प्रयोजन आदि का अध्ययन किया। चूँकि संगीत भी एक कला है, अतः कला के आवश्यक तत्त्वों, सिद्धान्तों एवं प्रयोजनों का निर्वाह संगीत में कहां तक व किस प्रकार होता है, इसी का विश्लेषण हम यहां करेंगे।

कला के आदर्श से तात्पर्य है कला के नियम, तत्त्व, उसका महत्त्व एवं प्रयोजन आदि। कला की जो आवश्यक शर्तें जैसे कला का प्रभावकारी होना, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति करना, सौन्दर्ययुक्त होना आदि के निर्वाह में संगीत कहां तक सफल हुआ है ? विभिन्न विचारकों ने कला के अनेक प्रयोजन बताए हैं, संगीत उनमें से कितने प्रयोजनों की पूर्ति में समक्ष है ? एक आदर्श कला की आवश्यक शर्तों की पूर्ति संगीत कितनी मात्रा में तथा किस प्रकार करता है, इन सभी बातों का विश्लेषण तथा विवेचन इस अध्याय में करेंगे।

कला के प्रमुख तत्त्व तथा संगीत

संगीत को जब हम एक उच्च श्रेणी की कला कहते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि संगीत क्यों एक श्रेष्ठ कला है ? अथवा संगीत को कला का दर्जा क्यों दिया जाय ? किसी भी कला को कला कहलाने के लिए यह जरूरी है कि उसमें कला के प्रमुख तत्त्व मौजूद हों। पिछले अध्याय में हमने कला के प्रमुख तत्त्वों का अध्ययन किया। उन तत्त्वों का निरूपण संगीत में किस प्रकार हुआ है, इसका विश्लेषण हम यहां करेंगे। किसी भी कला में रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, उपमा, विचार, ध्यान, कल्पना, आध्यात्मिकता, प्रकृति आदि का होना आवश्यक है। संगीत में इन तत्त्वों की स्थिति निम्न है—

(1) **रूप** (Form)—जिस प्रकार अन्य कलाओं में कृति के लिए निश्चित आकार-रूप होता है जैसे मन्दिर हो या मस्जिद, इनका एक निश्चित एवं मूल रूप होता है अथवा काव्य में दोहा, सोरठा आदि का मात्रानुसार रूप होता है। इसी तरह संगीत में हर राग का अपना एक निश्चित रूप

होता है। राग के वादी-संवादी-विवादी स्वर, उत्तरांग पूर्वांग की प्रधानता, उसका चलन सीधा अथवा वक्रत्व लिए है आदि बातें राग को एक निश्चित रूप प्रदान करती हैं। इसी रूप के कारण हम सुनकर रागों को पहचानते हैं कि प्रस्तुत राग यमन है अथवा बिहाग है। रागों के अलावा हिन्दुस्तानी संगीत में तालों का भी निश्चित रूप होता है जो उन्हें मात्रा, विभाजन तथा बोलों के द्वारा प्राप्त होता है।

(2) **प्रमाण**—कोई भी कृति उत्कृष्ट तब कहलाती है, जब उसके विभिन्न आयामों, अंगों, रंगों तथा तत्त्वों में समुचित प्रमाण हो। इन सभी के उचित प्रमाणपूर्ण मिश्रण से ही कृति में सौन्दर्य पैदा होता है। संगीत में प्रमाण का विशेष महत्त्व है। राग में प्रयुक्त होने वाले स्वरों का प्रमाण होता है जो अल्पत्व, बहुत्व द्वारा निभाया जाता है। स्वर-प्रमाण के बदलने से राग भी बदल जाता है, जैसे मारवा तथा पूरिया। इसी प्रकार सा म, सा प तथा सा ग, संवाद का आधार भी प्रमाण है। राग प्रस्तुतीकरण में आलाप तानों का समुचित प्रमाण में प्रयोग किया जाता है।

(3) **भाव**—कला का एक प्रमुख तत्त्व है, भाव की अभिव्यक्ति तथा भाव की उत्पत्ति। संगीत में गायक, वादक अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है और कृति के माध्यम से स्वर लहरी द्वारा श्रोताओं को आत्मविभोर कर उनके अन्तर्निहित भावों को जागृत करते हुए आनन्द की अनुभूति कराता है। भावों की अभिव्यक्ति का संगीत एक सशक्त माध्यम है और इसका प्रभाव श्रोता पर तत्काल पड़ता है। संगीत में विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति व उन भावों के रसों की निष्पत्ति के अनुकूल प्रबन्ध रचनाएँ, रागें, ताल तथा वाद्य उपलब्ध हैं।

(4) **लावण्य**—लावण्य कला का ओज है। इसे हम सौन्दर्य कह सकते हैं। इसके बिना कला अधूरी रहती है। संगीत में लावण्य, मींड, कण, स्वर को छोड़ने का तरीका, छोटे-छोटे स्वरगुच्छ, स्वर को आन्दोलित करना आदि द्वारा पैदा किया जाता है। वादन में घसीट जमजमा, कृन्तन तथा तरब के तारों को छेड़कर सौन्दर्य पैदा किया जाता है। इसके अतिरिक्त ताल द्वारा (दुगुन, तिगुन, तिहाइयां आदि), बंदिश द्वारा, तान आलाप द्वारा सौन्दर्य पैदा किया जाता है।

(5) **सादृश्यता**—कुछ समान तत्त्वों का एक से अधिक वस्तु में विद्यमान होना ही सादृश्यता है। संगीत में अनेक बंदिशें अलग-अलग रूप लिए होने पर भी उनमें कुछ रागत्व की सादृश्यता होती है, जिसके कारण ही वे एक राग में आती हैं। रागांग भी सादृश्यता का एक उत्तम उदाहरण है। एक

रागांग भिन्न रागों में होने पर उनमें सादृश्यता पैदा करता है। चतुर्विध वाद्यों का वर्गीकरण भी सादृश्यता पर आधारित है।

(6) **उत्कृष्टता**—ललित कला का एक आवश्यक तत्त्व है, कृति की उत्कृष्टता। संगीत में भी उत्कृष्टता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यही कारण है कि गायक अथवा वादक साधना और अभ्यास को बहुत महत्त्व देते हैं और इसी अभ्यास के परिणामस्वरूप वे अपनी कृति को उत्कृष्ट बना पाते हैं। इसके अतिरिक्त कृति की उत्कृष्टता के लिए वे कल्पना द्वारा उसे सजाते हैं और विभिन्न अलंकरणों (तान, आलाप, मींड, कण, आन्दोलन, गमक, गिटकड़ी, जमजमा आदि) का प्रयोग करते हैं। गायक या वादक जब स्वयं को, कुशलता पूर्वक अपनी कृति को उत्कृष्ट रूप देने में समर्थ पाता है, तभी उसे प्रस्तुत करता है। यह अन्तर एक साधारण तथा उच्च कोटि के गायक वादक में देखा जा सकता है। इस अन्तर का कारण है कृति का कम व अधिक उत्कृष्ट होना।

(7) **विचार**—कोई भी कला हो कलाकार को अपने मस्तिष्क में क्या बनाना है, यह विचार अथवा उसका प्रत्यय स्पष्ट रूप से लाना होता है। संगीत में गायक अथवा वादक, जो राग प्रस्तुत करना होता है, उसकी स्पष्ट अवधारणा वह अपने मस्तिष्क में करता है। स्पष्ट व स्थिर विचार की आवश्यकता के कारण ही रागों के 'रागध्यान' रचे गये। इन्हीं की सहायता से गायक वादक मस्तिष्क में राग का स्वरूप (concept) स्पष्ट रूप से लाते थे और तब राग की उत्कृष्ट अवतारणा करते थे। इसके अलावा प्रस्तुति के पूर्व कौनसा राग, बन्दिश, किस ताल में प्रस्तुत करना है, कितने समय में पूर्ण कृति प्रस्तुत करनी है, श्रोता किस तरह के हैं, इन सभी बातों पर पूर्ण विचार किया जाता है, तभी प्रस्तुति सफल रूप धारण करती है।

(8) **ध्यान**—कला चाहे कोई भी हो, कृति बनाते समय ध्यान का एकाग्र होना जरूरी होता है। इसीलिए, कलाओं को चित्त एकाग्र करने का साधन माना गया है। संगीत में ध्यान का अपना महत्त्व है। चूँकि संगीत में कृति पहले से तैयार नहीं होती है वरन् उसी समय (श्रोताओं के सम्मुख) तैयार होती है, अतः राग का स्वरूप, बंदिश, ताल, सौन्दर्य-स्थल आदि सही रहें, इसके लिए गायक वादक को ध्यान अपनी कृति में ही केन्द्रित करना होता है। जरा ध्यान बंटने से कोई वर्जित स्वर लग सकता है अथवा ताल छूट सकती है अथवा सौन्दर्योत्पादक व प्रभावित करने वाले स्वर समुदायों की रचना नहीं हो पाएगी। संगीत में ध्यान का महत्त्व श्रोता के लिए भी है। बिना ध्यान से सुने संगीत का आनन्द नहीं लिया जा सकता।

(9) **कल्पना**—कला को सँवारने, नवीनता लाने तथा सौन्दर्य प्रदान करने के लिए कल्पना का विशेष महत्त्व है। संगीत में कल्पना का अपना महत्त्व है। बंदिश के अतिरिक्त जो भी गायकी है, अथवा वाद्य-संगीत में जो भी गत है उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रस्तुति कल्पना का चमत्कार होता है। बोल-आलाप, तानें, दुगुन, तिगुन, तिहाइयाँ, उपज, जोडअलाप, झाला, घसीट आदि सब कलाकार की कल्पना की उपज होते हैं। यही कारण है हमारा कोई राग कभी पुराना नहीं होता। एक ही बंदिश को विभिन्न गायक विभिन्न समय पर अपनी कल्पना के बलबूते पर नवीनता प्रदान करते रहते हैं।

(10) **प्रकृति**—सभी कलाओं में किसी-न-किसी रूप में प्रकृति से साम्य पैदा किया जाता है, उसका वर्णन किया जाता है। संगीत भी प्रकृति से जुड़ा है। मौसम के अनुरूप राग जैसे बसंत, बहार, मल्हार के प्रकार आदि हैं। इसके अतिरिक्त बंदिशों में बादल गरजना, बिजली चमकना, फूलों का खिलना, पपीहे अथवा कोयल का बोलना आदि का वर्णन भी उपलब्ध है। इतना ही नहीं, प्राचीन समय में तो प्रकृति को संगीत द्वारा प्रभावित भी किया जाता था, राग विशेष गाकर वर्षा कराना अथवा पत्थर पिघलाना आदि। राग का समय सिद्धान्त भी प्रकृति के अनुरूप है। प्रात: व सायं का समय पूजा, अर्चना, वंदना का होता है अत: करुण रस प्रधान राग गाये जाते हैं।

(11) **प्रतीकवाद**—कला में सौन्दर्य पैदा करने के लिए विभिन्न प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। जैसे देवी देवताओं को विद्या-धन-बल का प्रतीक माना जाता है। संगीत में रागों के प्रतीक हैं रागचित्र। इसके अतिरिक्त रागांग राग विशेष के प्रतीक हैं। समय-समय पर स्वरों व रागों को विभिन्न भावों व रसों का प्रतीक माना गया है। विभिन्न तालों के नाम उनकी लय के प्रतीक हैं। कोयल, चातक, मेंढ़क आदि पशुपक्षी की आवाजों को भिन्न स्वरों के प्रतीक रूप में माना जाता था। इस प्रकार संगीत में प्रतीकवाद का निर्वाह अनेक रूपों में किया जाता है।

(12) **आध्यात्मिकता**—समस्त भारतीय कलाओं का मूल विषय परमेश्वर रहा है। वास्तु, मूर्ति, चित्र सभी कलाएँ मुख्य रूप से अध्यात्म की ओर उन्मुख हैं, फिर संगीत कला इसका अपवाद कैसे हो सकती है? संगीत के लिए तो यहाँ तक कहा जाता है कि ईश्वर प्राप्ति का सर्वाधिक सरल मार्ग जो कि 'भक्तिमार्ग' अथवा 'भक्तियोग' के नाम से अभिहित है वह संगीतमय है। संगीत का प्रमुख निवास वहीं था, है और रहगा। ईश्वर को प्रसन्न

करने, उसकी वंदना-उपासना करने, मंत्रों द्वारा देवता का आह्वान करने आदि सभी में संगीत का प्रयोग होता रहा है। शास्त्रीय संगीत में भी अनेक ध्रुवपद, धमार, ख्याल आदि ईश्वर पर आधारित हैं। स्वर साधना योग की प्रथम सीढ़ी है। त्यागराज, हरिदास, पुरंदरदास, मीरा आदि ने संगीत के माध्यम से ही ईश्वर से साक्षात्कार किया है।

(13) **शैली**—समय व स्थान के परिवर्तन के कारण प्रत्येक कला, जो भिन्नता प्राप्त करती है उसी से नवीन शैली का जन्म होता है। कुछ समानताएँ अथवा प्रस्तुतिकरण का निश्चित तरीका किसी शैली का सूचक होता है। इसी आधार पर हम कोई भी चित्र अथवा मूर्ति अथवा भवन को देखकर सिंधु शैली, अजन्ता शैली अथवा राजपूत शैली अथवा मुगल शैली की पहचान करते हैं। संगीत में प्रस्तुति के आधार पर विभिन्न शैलियाँ पाई जाती हैं। कण्ठ संगीत में विभिन्न घराने, शैली के ही प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त ध्रुवपद गायन शैली, ख्याल गायन, टप्पा गायन आदि विभिन्न शैलियाँ हैं। नृत्य में मणिपुरी, कुचिपुड़ी, भरतनाट्यम, कथक आदि नृत्य की विभिन्न शैलियाँ हैं। वाद्यों में हमें बाज के रूप में भिन्न शैलियाँ मिलती हैं। समय की माँग व समय परिवर्तन के साथ इनमें परिवर्तन होता है व नवीन शैलियों का जन्म भी होता है।

कला के उद्देश्य एवं संगीत

ऊपर हमने कला के विभिन्न तत्त्वों की उपस्थिति संगीत में देखी। केवल तत्त्वों का होना ही कला नहीं है वरन किसी भी कला को, कला के उद्देश्यों की पूर्ति में भी सक्षम होना चाहिए। भारतीय विचारकों के अनुसार मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ हैं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। उन्हीं की प्राप्ति का प्रयत्न मनुष्य करता है अतः कला द्वारा इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होनी चाहिए। पाश्चात्य विचारकों ने कला के जितने भी उद्देश्य बताए हैं वे सब इन्हीं चार पुरुषार्थों के अन्तर्गत ही आते हैं।

(1) **धर्म**—इसके अन्तर्गत हम कला जीवन के लिए, कला सेवा के लिए तथा कला विरेचन के लिए आदि उद्देश्यों को रख सकते हैं। संगीत द्वारा इन सबकी पूर्ति होती है। कला जीवन के लिए अर्थात् उपयोगी हो। संगीत द्वारा मनुष्य को उत्साह, प्रेम आदि का सन्देश मिलता है। राष्ट्रीय गीतों द्वारा देशप्रेम की भावना का विकास होता है, तो श्रमगीतों के द्वारा उत्साह प्राप्त होता है और थकान नहीं होती। अनेक रागों की चिकित्सा में सहायता देकर संगीत सेवा का उद्देश्य भी पूरा करता है। यह मनुष्यों को चिंताओं से मुक्त करता है। ईश्वरोपासना चाहे किसी धर्म में हो,

हिन्दू, मुसलमान, इसाई, निर्गुण-सगुण कोई भी पंथ हो, उस एक शक्ति की उपासना का तरीका संगीतमय ही है। इनके भिन्न रूप आरती, भजन, कव्वाली, प्रेयर, गुरुवाणी आदि देखने को मिलते हैं। इस स्तुति-भक्ति के समय व्यक्ति छल, कपट, झूठ, अहंकार, लोभ, क्रोध आदि दुर्गुणों से ऊपर उठ जाता है। उसकी वासनाओं का, दुर्विचारों का अन्त हो जाता है, यही विरेचन है।

(2) **अर्थ**—कला का एक कार्य है कि वह व्यक्ति को अर्थ प्राप्ति में सहायता दे। संगीत का प्रयोग इस ओर वैदिक काल से होता चला आ रहा है। सूत, शैलूज व नट इसी प्रकार के लोग थे जो अर्थ प्राप्ति के लिए संगीत का उपयोग करते थे। उसके बाद राज-दरबारों में प्रश्रय प्राप्त गायक-वादक-नर्तक अपनी कला का मूल्य पाते थे। इसके अलावा ढोली, लंगा, मिरासी आदि प्रकार की अलग-अलग स्थानों पर अनेक जातियाँ रहीं, जिनके जीवन-यापन का साधन संगीत रहा। आधुनिक समय में भी कलाकार गायक-वादक-नर्तक कोई भी हो, अपनी प्रस्तुति के बदले अर्थ प्राप्त करते हैं। यह प्रस्तुति रेडियो अथवा टी.वी. पर हो, किसी आयोजित सभा में हो अथवा किसी पर्व पर हो। आज भी अनेक जातियाँ हैं जो अपना जीवन यापन संगीत के द्वारा ही करती हैं। बंजारे, ढोली, नटनियाँ, सांसी, लंगा आदि इसी प्रकार की जातियाँ हैं।

(3) **काम**—कला मनोरंजन के लिए, यश प्राप्ति के लिए, अभिव्यंजना तथा संप्रेषण के लिए आदि उद्देश्य काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। संगीत इन सभी की पूर्ति में सक्षम है। विशुद्ध मनोरंजन संगीत की स्वर-लहरी से तुरन्त व सर्वाधिक सरल तरीके से प्राप्त होता है। यह संगीत चाहे लोकगीत अथवा नृत्य हों अथवा फिल्म संगीत हो या शास्त्रीय अथवा उपशास्त्रीय सभी से अपनी रुचिनुसार मनोरंजन संभव है। वैदिक काल में गाथागान, वर्तुलाकार नृत्य आदि के रूप में मनोरंजन होता था तो उसके बाद के काल में राजमहलों में संगीत के आयामों (नृत्य, वीणा वादन, मुजरे) का प्रयोग केवल आराम तथा मनोरंजन के लिए था।

यश अथवा प्रसिद्धि ऐसा अमृत है, जिसे हर कोई पीना चाहता है। गायक वादक संगीत द्वारा इसे प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और प्राप्त भी करते हैं। यही कारण है कि कई गायक अपने कार्यक्रम में अपने गले की तैयारी के अनूठे प्रयोग प्रस्तुत करते हैं, जिससे वह वाह वाह लूट सकें। इस वाह को सुनने की चाह के लिए बुद्धि को चमत्कृत करने वाली गायकी पेश करते हैं। यही कारण है कि आज के युग में त्यागराज, हरिदास, मीरा, सूर जैसी भाव-प्रधान गायकी सुनने को नहीं मिलती।

संगीत से संप्रेषण संभव है, भावों की अभिव्यक्ति व श्रोताओं में उस भाव की जागृति संगीत के द्वारा की जाती है, भजन, आरती, भक्ति का भाव, राष्ट्रीय गीत तथा मार्च धुनें, वीरता का भाव आदि जगाते हैं। संप्रेषण को अधिकाधिक सफल बनाने के लिए गायक वादक श्रोताओं के स्तर को ध्यान में रखते हुए अपनी कृति प्रस्तुत करते हैं, जिससे वे उसे समझ सकें।

(4) **मोक्ष**—मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, अतः स्वाभाविक है कि कलाओं को इस लक्ष्य पूर्ति में सहायक होना चाहिए। संगीत इस कसौटी पर खरा उतरता है। भगवान् कृष्ण द्वारा बताए गये मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में एक है 'भक्ति योग'। इस भक्ति का साधन है, संगीत। इसके अलावा नादब्रह्म की उपासना, साधना ही ईश्वर उपासना है। संगीत द्वारा आनन्द प्राप्ति का उद्देश्य भी प्राप्त किया जाता है। संगीत से प्राप्त होने वाला आनन्द पारलौकिक है, जिसे ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है। गायक, वादक व नर्तक अपनी कला में इतने लीन व भाव-विभोर हो जाते हैं कि इस संसार व अपने आप को भूल जाते हैं, आनन्दाश्रु बहाने लगते हैं। यही स्थिति उस अलौकिक आनन्द की है। त्यागराज, विष्णुदिगम्बर, हरिदास, सूर, मीरा आदि ऐसे आनन्द में डूब जाते थे। इनमें ईश्वर प्रेम की भावना इतनी प्रबल थी कि वह संगीत के माध्यम से फूट पड़ती थी।

उपरोक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि कला के उद्देश्य चाहे पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार हों अथवा भारतीय विचारधारा के, संगीत उन सबकी पूर्ति करने में समर्थ है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का साधन है। इसी प्रकार कला के सभी आवश्यक तत्त्व संगीत में विद्यमान हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि संगीत एक आदर्श कला है, उच्च कोटि की कला है व श्रेष्ठ कला है।

अध्याय 5

सौन्दर्य

सौन्दर्य क्या है ?

बोलचाल की भाषा में जो वस्तु हमें देखने में भली लगे, हमारा ध्यान आकर्षित करे, सुरुचिपूर्ण हो, उसे सुन्दर कहते हैं। लेकिन सौन्दर्य का यह अर्थ संकुचित है। केवल बाह्य दिखावे में ही सौन्दर्य नहीं है, एक सांवली साधारण महिला जो देखने में अच्छी नहीं है, हमारा ध्यान भी आकर्षित नहीं करती, हम उसके लिए 'यह सुन्दर नहीं है' धारणा बनाते हैं पर कुछ देर साथ बैठने पर उसकी मधुर वाणी, बात करने का उत्तम तरीका, उसके ज्ञान भण्डार से हम प्रभावित होते हैं और पसन्द करने लगते हैं। हमारी राय बदल जाती है, हम कहते हैं वह महिला 'बहुत अच्छी' है। यह 'अच्छी' ही उसका सौन्दर्य है। अतः केवल बाह्य आवरण ही सौन्दर्य नहीं होता। सौन्दर्य शब्द का व्यापक अर्थ है, जिसे समझने के लिए अनेक विचारकों का मत जानना होगा।

सौन्दर्य पर चर्चा सबसे पहले भारत, चीन तथा बेबीलोन में लगभग 2500 वर्ष पूर्व हुई। अंग्रेजी के 'Beauty' शब्द के पर्याय रूप में हमें संस्कृत में भिन्न शब्द मिलते हैं यथा सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, लालित्य आदि। अलग-अलग प्रसंग व स्थान पर इन शब्दों का प्रयोग सुन्दरता के लिए किया जाता रहा है। इसी प्रकार अंग्रेजी में grace तथा pretty शब्द है जो Beauty के लिए प्रयोग किये जाते हैं।

प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य श्री रूप गोस्वामी ने कहा है—

> अंगप्रत्यंकानाम् यः सन्निवेशो यशोचितम् ।
> सुश्लिष्ट सानुबन्धः स्यात् सौन्दर्यमितीर्यते ॥

इसी प्रकार विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में कहा है—

> सर्वावस्थाविशेशेषु माधुर्ये रमणीयता ॥

सौन्दर्य की परिभाषा

सौन्दर्य के सम्बन्ध में हमें अनेक विचारकों के मत मिलते हैं। स्थान, वातावरण व परिस्थितियों तथा सोचने के तरीके की भिन्नता के कारण इन

विचारकों के मत में भी भिन्नता है जो हमें विभिन्न परिभाषाओं में लक्षित होगी। कुछ विचारक सुन्दरता को इच्छा व मन की संतुष्टि मानते हैं। सुन्दरता कोई गुण नहीं वह केवल एक भाव है। मनुष्य उसे तब प्रकट करता है जब उसे अपने मन की वस्तु मिल जाय। कुछ लोग सुन्दरता को ऊपरी तथा केवल दृश्य मानते हैं तो कुछ उसका सम्बन्ध सत्य, शिव से अथवा नैतिकता व अच्छाई से जोड़ते हैं। इन परिभाषाओं को हम पाश्चात्य विचारक तथा भारतीय विचारक दो शीर्षकों में अलग-अलग देखेंगे।

पाश्चात्य विचारक

कान्ट—"प्रकृति में कला दिखाई दे तथा कला में प्रकृति दिखाई दे वही सुन्दर है।"

प्लैटो के अनुसार—"Unity within variety is Beauty."

क्रोचे—"जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुरूप हो वही सुन्दर है।"

रिचर्ड्स के शब्दों में—"मानव की भावनात्मक संतुष्टि का नाम ही सौन्दर्य है।"

सैम्यूअल ऐलैक्जैण्डर—"सुन्दर भ्रामक होता है, वह जड़ चेतन तत्त्वों के पारस्परिक समन्वय से प्रकट होता है।"

ऐमर्सन—"चरम सीमा की मध्यवर्ती स्थिति में सौन्दर्य निवास करता है। कल्पना को प्रभावित करने वाली वस्तु सुन्दर होती है।"

शांतायन—"आनन्द का मूर्तरूप सौन्दर्य है।"

प्लैटिनस—"सौन्दर्य एक रोशनी है, जिसकी आभा से कला चमकती है।"

कीट्स—"Beauty is truth and truth is beauty."

टाल्सटाय—"That is beauty which pleases all, which pleases without interest and without concept and pleases necessarily."

हैब्रू लागों के अनुसार—जो नैतिक है वही सुन्दर है, अनैतिकता सब कुरूपता है। A यानि ऐस्थेटिकल तथा E यानि ऐथिक्स।

सुकरात—"जो अच्छा है वही सुन्दर है।"

रस्किन—"सुन्दरता व नैतिकता में चोली दामन का साथ है।"

बोसांकले—"सौन्दर्य बोध ज्ञान के लिए होता है, व्यवहार के लिए नहीं।"

शैलिंग—"सौन्दर्य हमें इन्द्रियातीत आनंद देता है।"

प्लेटिनस—"सौन्दर्य वही है जो अध्यात्म का पुट लिए हो।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारकों में सौन्दर्य के प्रति दो मत थे। कुछ केवल बाह्य रूप, आकार अथवा कल्पना की संतुष्टि तक सौन्दर्य को सीमित करते हैं, तो कुछ सौन्दर्य को नैतिकता, अध्यात्म से जोड़ते हैं। एक मत ज्ञानेन्द्रियों, तुष्टि व क्षणिक तथा बाह्य आनन्द को महत्त्व देता है तो दूसरा मत उसमें सत्य व शिव को सम्मिलित करता है। सौन्दर्य बाह्य के साथ-साथ सत्य व शिवमय हो, उसमें नैतिक मूल्यों का उल्लंघन न हो और अध्यात्म की ओर उन्मुख हो। कॉम्पे का कथन सर्वथा उचित है कि Physical beauty is attractive because it is a mirror of the spiritual, which under lies it. इसी प्रकार की बात टॉफर ने कही कि सुन्दर केवल एक है, वह है ईश्वर। सुन्दर वही है जो हमें उच्च बनाए, नैतिकता की ओर अग्रसर करे तथा मनुष्यता प्रदान करे।

भारतीय विचारक

अन्य विषयों की तरह सौन्दर्य के संबंध में भी भारतीय विचारकों का मत अध्यात्म का पुट लिए है। भारत की सगुण भक्ति धारा में जगत का बाह्य सौन्दर्य ब्रह्म के नाते ही स्वीकार किया गया है। कोरा बाह्य सौन्दर्य शूद्र है। वह जब ब्रह्म भावना से युक्त होता है तभी रमणीय व आकर्षक बनता है। और यह सौन्दर्य केवल इन्द्रियों से संबंधित नहीं होता है अथवा केवल ऐन्द्रिय सुख न देकर आत्मानंद प्रदान करता है।

आनंदकुमार स्वामी ने कहा है—"An absolute beauty exist just as others mention and absolute truth. इसके साथ-साथ वे बाह्य सौन्दर्य (रूप, बनावट) को भी महत्त्व देते हैं, परन्तु उसका प्रभाव आध्यात्मिकता लिए हो।

शुक्रनीतिसार—"अनुपात का सामंजस्य सौन्दर्य उत्पन्न करता है।"

भारतीय साहित्य व दर्शन में सौन्दर्य की व्याख्या अलंकार, ध्वनि, रस, गुण तथा औचित्य आदि अनेक रूपों में की है।

गणपतिचंद्र गुप्त ने 'आकर्षित करने की शक्ति' को सौन्दर्य कहा है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार—भाव तत्त्व व कला तत्व की समंजित अनुभूति ही सौन्दर्यानुभूति है।

कालिदास के अनुसार—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

कुमारसम्भव में कहा गया है कि सच्चा सौन्दर्य स्वयं पापवृत्ति की ओर

नहीं जाता और दूसरे को भी उस ओर जाने से रोकता है। इसमें सात्विकता उत्पन्न करने की शक्ति है।

कुछ रूपवादी विचारक बाह्य सौन्दर्य (वस्तु सौन्दर्य) को महत्त्व देते हैं, परन्तु भारतीय विचारधारा मूल रूप से आध्यात्मिकता पूर्ण है।

सौन्दर्य कहाँ है ?

सौन्दर्यशास्त्र मूल रूप से पाश्चात्य की देन है, इसी शास्त्र में हमें सौन्दर्य के संबंध में व्यापक विश्लेषण प्राप्त होता है। पिछले 300 वर्षों में सौन्दर्य तत्त्व का चिंतन, शास्त्रीय व्यवस्था के साथ ही एक निश्चित प्रणाली के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया। सौन्दर्य कहां निहित है ? वस्तु में अथवा दृष्टा के मन में ? अनेक विचारकों ने सौन्दर्य की स्थिति पर अपने विचार दिये हैं। कुछ उसे वस्तु में (रूप, रंग, आकार) मानते हैं तो कुछ मन में (आत्मा अथवा दृष्टा व श्रोता में), तो कुछ ने सौन्दर्य की स्थिति दोनों में मानकर सामंजस्यपूर्ण मत दिया है। इस प्रकार सौन्दर्य की स्थिति के संबंध में प्रमुख रूप से तीन विचारधाराएँ मिलती हैं—

(1) वस्तुवादी—यथार्थवादी, भौतिकवादी, वैज्ञानिक विचारधारा
(2) आत्मवादी—आदर्शवादी विचारधारा
(3) मध्यम मार्ग—समन्वयवादी विचारधारा

वस्तुवादी विचारधारा

इस मत के समर्थकों के अनुसार सौन्दर्य वस्तु का गुण है। वस्तु या व्यक्ति के वे सभी गुण या धर्म जो हमारी पंचेन्द्रियों को सुखद तथा आनन्द-मयी प्रतीत होते हैं, वही सौन्दर्य है। सौन्दर्य की कल्पना पूर्णतः भौतिक है। सौन्दर्य किसी वस्तु, व्यक्ति, दृश्य अथवा किसी स्थिति के रूप, रंग, आकार, स्पष्टता, उपयोगिता, सजीवता, संतुलन, समन्वय, अनुपात आदि आत्म-निरपेक्ष बाह्य गुणों में होता है। रूपवादी, कलावादी तथा गुणवादी चिंतक सौन्दर्य की स्थिति बाह्य वस्तु में ही मानते हैं। हरबर्ट स्पेंसर, डारविन, वाल्टर पेंटर, आस्कर वार्डल्ड, रोनाल्ड्स तथा सुकरात इसी श्रेणी के प्रसिद्ध विचारक थे। स्पेंसर के अनुसार सौन्दर्य का अपने रूप के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है। आस्कर वार्डल्ड ने माना है कि कला के सौन्दर्य का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, कला स्वयं में सिद्धि है, वह किसी अन्य प्रयोजन का साधन नहीं है। पाइथागोरस, सुकरात तथा डार्विन के पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों ने संगीत जैसी सूक्ष्म कला के सौन्दर्य को भी गणितशास्त्रोपयोगी अंकों की-सी

नियमितता व व्यवस्था में देखा है। रूपवादी विचारकों ने सौन्दर्य के लिए सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संयम, स्पष्टता तथा कोमलता आदि तत्त्वों को प्रधान माना है। ये तत्त्व पूर्णतः पार्थिव हैं। यदि वस्तु अपने आप में सुन्दर नहीं है तो हम उसे सुन्दर देख नहीं सकते अथवा उसमें बाहर से सौन्दर्य भर नहीं सकते। वस्तु में स्थित सुन्दरता ही हमें ऐन्द्रिय सुख या संतुष्टि प्रदान करती है।

कुछ भारतीय विचारक भी इस मत के समर्थक हैं। क्षेमेन्द्र के अनुसार उचित स्थान विन्यास में सौन्दर्य निहित है। इसी तरह रूपगोस्वामी ने उचित सन्निवेश को सौन्दर्य का आधार माना है। भट्ट, लोल्लट आदि भी सौन्दर्य को विषय में अधिक मानते हैं। अलंकारवादी तथा रीतिवादी भी सौन्दर्य को बाह्य विषयों में मानते हैं। वस्तु ही महत्त्वपूर्ण है, आत्म-सत्ता नहीं।

आत्मवादी विचारधारा

आत्मवादी विचारक सौन्दर्य को मूलतः अपार्थिव मानते हैं। ये आदर्शवादी सौन्दर्य के विषय को अध्यात्म की गहन चिन्तनधारा में उठा ले गये हैं। इन विचारकों के अनुसार मन के बाहर सौन्दर्य की सत्ता कहीं नहीं है। सौन्दर्य केवल एक मानसिक वृत्ति है। रूपवादी विचारकों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व—सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, कोमलता आदि आदर्शवादी भी स्वीकार करते हैं, पर उनके अनुसार ये सभी तत्त्व पारपार्थिव सत्ता के प्रतीक हैं। इसलिए ही सौन्दर्य सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक होता है। सौन्दर्य का निवास वस्तु में न होकर दृष्टा के मन में होता है। तभी एक वस्तु हमारे लिए सुन्दर है व दूसरे के लिए असुन्दर। जिस वस्तु या विषय अथवा घटना को हम असुन्दर, भयानक कहते हैं, (अन्धकारपूर्ण रात्रि अथवा कोई अग्निकाण्ड) कलाकार अपने अन्तर्निहित सौन्दर्य, मनोबल, रुचि व कार्यकुशलता द्वारा उसमें भी सौन्दर्य बिखेर देता है। गहन अन्धकारमय रात्रि में पक्षी के पंखों की फड़फड़ाहट, जो भयानक लगती है, कवि उसमें भी सौन्दर्य देखता है तथा उसका चित्रण बड़े अच्छे तरीके से करता है। साहित्यकारों, चित्रकारों, कवियों तथा मूर्तिकारों ने बार-बार यह सिद्ध किया है कि वस्तु अपने आप में कभी भी सुन्दर या असुन्दर नहीं होती। हमारा दृष्टिकोण ही उन्हें ये संज्ञाएं प्रदान करता है। बिहारी ने ठीक ही कहा है—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोई।
मन की गति जेतिजितै, तित तेती रुचि होई।।

इस मत के प्रमुख समर्थक प्लैटो, वर्कले, कीट्स, शॉपिन, हीगल, रूसो, विंकलमेन, टामसएक्वीनस, सिलर आदि हैं। ये सभी सौन्दर्य का आधार लोकोत्तर अथवा आध्यात्मिक सत्ता को मानकर चलते हैं। सेंट आगस्टीन के अनुसार ईश्वर का सौन्दर्य ही सृष्टि के समस्त सौन्दर्य का स्रोत या मूलकारण है। इसी कारण प्लैटो का कहना है कि सुखकर, प्रिय अथवा उपयोगी होना एक बात है और सुन्दर होना दूसरी। उपयोगिता सौन्दर्य में वृद्धि कर सकती है पर वह स्वयं सौन्दर्य नहीं है। सृष्टि का मूल सौन्दर्य अखण्ड व एकरस रहता है। सभी मूल पदार्थों में वही सौन्दर्य निहित है। रीद के अनुसार सौन्दर्यबोध सहज ज्ञानगम्य है। यह वृत्ति उच्च आत्मिक संस्कारों का परिणाम है।

इसी प्रकार भारतीय विचारधारा मूलतः आत्मवादी ही है। पूर्ण आत्मिक सौन्दर्य में ही ये सौन्दर्य मानते हैं। शंकरवल्लभ, सूर, तुलसी, रामकृष्णपरमहंस, गाँधीजी, विनोबा, सम्पूर्णानंद, विवेकानन्द आदि की विचारधारा में सौन्दर्य के आदर्श रूप को ही वर्णित किया गया है। सौन्दर्य हमेशा निःस्वार्थ निष्काम होता है। कीट्स ने कहा है—A thing of beauty is joy for ever.

इसी मत को कारलाइल ने कहा कि सत्य विरहित कलाएँ पतनोन्मुख अथवा मरणोन्मुख होती हैं।

अर्थात् सौन्दर्य सत्य व शिवमय हो जो हमें इन्द्रियातीत आनन्द प्रदान करे। मनुष्य का निर्लिप्त मन जिसे स्वीकार करे, वही सुन्दर है। मनुष्य के मन में सौन्दर्य होता है इसीलिए यह कहा जाता है कि सौन्दर्यबोध अथवा रसास्वादन के लिए दृष्टा या श्रोता का सहृदयी होना आवश्यक है। उसकी मनःस्थिति ठीक होगी तभी वह सौन्दर्य देख सकेगा। जैसे किसी दर्शक की ताजमहल के बाहर ही जेब कट जाय या गर्मी के कारण यकायक उल्टियाँ हो जाय व उसकी तबियत खराब हो जाय तो बड़े चाव से ताजमहल देखने गए उन दर्शकों की क्या प्रतिक्रिया होगी इसकी कल्पना सहज की जा सकती है। दोनों की मन स्थिति व शारीरिक स्थिति ठीक नहीं होने के कारण उन्हें अब ताजमहल में उतनी रुचि नहीं होगी और वे उसके सौन्दर्य को देखकर न उसे आँक सकेंगे, न उसका आनन्द ले सकेंगे, जबकि ताजमहल वही अपनी स्थाई सुन्दरता लिए है। अतः मन की सत्ता को नकारा नहीं जा सकता।

समन्वयवादी विचारधारा

वास्तव में देखा जाय तो उपरोक्त दोनों मत एकांगी हैं। एक केवल वस्तु

को महत्त्व देता है तो दूसरा केवल विषयी को। जबकि सौन्दर्य के लिए दोनों पक्ष समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। मन अथवा विषयी (व्यक्ति, दृष्टा, श्रोता) कितनी ही सौन्दर्यमयी भावना वाला हो, बहुत प्रसन्न हो, यदि कृति सुन्दर नहीं है तो उसे सौन्दर्य दिखाई कहाँ से देगा ? किसी चित्र में मुख वृद्ध का हो, शरीर छोटा हो, हाथ पाँव बालक के हों अर्थात् अनुपात ठीक न हो अथवा संगीत में बेसुरा या बेताला गायन हो, सहृदयी भी उसमें सौन्दर्य कहां से ढूँढेंगे ? अत: कृति में सुन्दरता होगी तभी मन उसका अनुभव करेगा। वर्ड्सवर्थ ने ठीक कहा है कि सौन्दर्य 'Half created and half perceived' होता है। अर्थात् आधा सौंदर्य रचना में होता है तथा आधा देखने वालों की उपज होता है। आधा कल्पना द्वारा निर्मित होता है जो कि 'Subject' में होता है और आधा इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं जो 'Object' में होता है।

इन विचारकों के अनुसार सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति है। अत: यह विचार मनोविज्ञान से अधिक निकट संबंध रखता है। जो विचारक सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं वे रचनाकार, दृष्टा अथवा श्रोता को महत्त्व देते हैं। जो सौन्दर्य को विषयगत मानते हैं वे कलाकृति को महत्त्व देते हैं। जबकि दोनों का समन्वय ही सही है। इसका बीज हमें कान्ट के सामंजस्यवाद में मिलता है। कान्ट के अनुसार कलाकार के अन्तर्मन का बाह्य सौन्दर्य के साथ सामंजस्य रहता है, तभी कला जन्म लेती है और भौतिक रूप धारण करती है। इस भौतिक रूप का कलाकार के आन्तरिक सौन्दर्य से पूर्ण सामंजस्य रहता है। दूसरी ओर ग्राहक के मन के सौन्दर्य का सामंजस्य कृति के सौन्दर्य से होता है, तभी सौन्दर्यानुभूति होती है। अत: सौन्दर्य कलाकार के मन में, कृति में तथा साथ ही ग्राहक के मन में भी होता है। ये तीनों स्थल अलग-अलग नहीं हैं, वरन् इन तीनों में पूर्ण सामंजस्य रहता है। इसी सामंजस्य में सौन्दर्य है।

रस्किन तथा हरबर्ट स्पेंसर भी समन्वयवादी हैं। हरबर्ट स्पेंसर एक ओर वस्तु के रूप, आकार को महत्त्व देते हैं तो दूसरी ओर वे कहते हैं कि "सौन्दर्यबोध ज्ञानगम्य है। यह वृत्ति उच्च आत्मिक संस्कारों का परिणाम है, सौन्दर्य की भावना व्यक्ति व जाति के जीवन में सदा संस्कार बनकर विकसित होती रहती है।"

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कृति तथा ग्राहक, वस्तु तथा मन, आश्रय तथा आलम्बन दोनों का सौन्दर्य के लिए समान महत्त्व है। संसार अनेक प्रकार की वस्तुओं से भरा पड़ा है तो दूसरी ओर मनुष्य है। दोनों ही सृष्टि

के अंग हैं व दोनों सत्य हैं। दोनों में से केवल एक की सत्ता को मानना उचित नहीं है। मनुष्य में (मन में) व संसार में दोनों में सुन्दरता है। मनुष्य यदि संसार की वस्तुओं में सौन्दर्य देखना चाहता है तो उसे अपने मनोबल का प्रयोग करना होगा। टामस एक्वीनस का विचार सही है कि सौन्दर्य कुछ वस्तु में होता है और कुछ दृष्टा की आंखों में।

अध्याय 6

सौन्दर्य के प्रमुख तत्त्व एवं संगीत

सौन्दर्य के संबंध में विस्तृत जानकारी हमें सौन्दर्य-शास्त्र में मिलती है। सौन्दर्य-शास्त्र जिसे अंग्रेजी में AESTHETICS कहते हैं। ग्रीक शब्द 'Atotikos' से बना है, जिसका अर्थ बाद में विकसित होकर 'ऐन्द्रिय-सुख की चेतना' हुआ। पाश्चात्य देशों में यह एक विकसित शास्त्र है। पिछले 150 वर्षों से सौन्दर्य-शास्त्र को संगीत से जोड़ा गया, जिसका अध्ययन 'Musical aesthetics' के अन्तर्गत किया जाता है। पाश्चात्य परम्परा में Truth (सत्य), Good (शिव) तथा Beauty (सुन्दर), इन तीनों गुणों पर क्रमश: Metaphysics, Ethics तथा Aesthetics में विचार अथवा अध्यन किया जाता है। अत: सौन्दर्य तत्त्व की विस्तृत जानकारी सौन्दर्य-शास्त्र में है। इस शास्त्र के अनुसार सौन्दर्य के कुछ तत्त्व निर्धारित किए हैं, इन तत्त्वों के उपयोग से अथवा इन तत्त्वों की उपस्थिति में सौन्दर्य उत्पन्न हो सकता है। अलग-अलग स्थानों के विचारक इन तत्त्वों की संख्या में मतभेद रखते हैं। अत: सभी विचारकों के मतों का अध्ययन जरूरी है। यहां हम कुछ प्रसिद्ध विचारधाराओं का अध्ययन करेंगे।

(1) **ग्रीस के विचारक**—इन विचारकों के अनुसार सौन्दर्य के लिए रिद्म (Rhythm), प्रपोर्शन (Proportion), सिमेट्री (Symmetry), ग्रेस (Grace) तथा यूनिटि (Unity) आदि तत्त्वों का होना आवश्यक है।

(2) **चीनी विचारक**—चीनी विचारक खाली स्थान में सौन्दर्य देखते हैं जिसे कलाकार अपनी कल्पना से भरता है। अर्थात् कल्पना ही सौन्दर्य का आधार है।

(3) **वस्तुवादी विचारक**—हरबर्ट स्पेंसर, डार्विन तथा रोनाल्ड्स आदि वस्तुवादी सौन्दर्य के लिए जो आवश्यक तत्त्व बताते हैं, वे हैं—स्पष्टता, शुद्धता, उपयोगिता, सजीवता, संतुलन, समन्वय तथा अनुपात।

(4) **रूपवादी विचारक**—ये विचारक मानते हैं कि सुव्यवस्था, विविधता, संयम, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, कोमलता, संगीतबद्धता आदि तत्त्वों के माध्यम से सौन्दर्य के रूप की अभिव्यक्ति होती है।

(5) **आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र**—सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार कला में अनुपात, संयोजन, संगति तथा संतुलन आदि तत्वों के होने से सौन्दर्य पैदा होता है।

(6) कालिदास जी ने क्षणे क्षणे................रमणीयताया; के अनुसार नवीनता को सौंदर्य का आवश्यक तत्व माना है।

(7) कुछ अन्य विचारक मानते हैं कि सौन्दर्य में सत्य व शिव हो, स्थायित्व हो, सहजता हो, आनन्द हो अथवा भावोत्पादकता हो।

उपरोक्त सभी मतों पर विचार करने के बाद हम सौन्दर्य के लिए निम्न तत्व आवश्यक मान सकते हैं—

(1) अनुपात
(2) संयोजन
(3) संगति अथवा ऐक्य
(4) संतुलन
(5) नवीनता अथवा विविधता
(6) स्थायित्व
(7) जटिलता
(8) भाव तथा आनन्द

सौन्दर्य के तत्व और संगीत

सौन्दर्य किसी भी कला का प्राण है और चूंकि संगीत एक कला है, अतः संगीत में सौन्दर्य होना स्वाभाविक है। ऊपर हमने सौन्दर्य के तत्वों की चर्चा की तथा कुछ तत्व निश्चित किए, जिनके माध्यम से कला में सौन्दर्य पैदा किया जा सकता है। इन तत्वों का निरूपण संगीत में कैसे किया जाता है अथवा संगीत में ये तत्व किस रूप में व कहाँ तक पाए जाते हैं, इसका विश्लेषण हम यहां करेंगे।

(1) **अनुपात** (Proportion)—अन्य कलाओं की तरह संगीत कला में भी उसके विविध अंगों व आयामों में अनुपात देखने को मिलता है। अनुपात के कुछ उदाहरण हम निम्न रूपों में पाते हैं—

(i) राग में लगने वाले स्वरों के महत्त्व का अनुपात वादी, संवादी, अनुवादी तथा विवादी स्वरों के रूप में मिलता है। यह अनुपात अल्पत्व व बहुत्व के द्वारा निभाया जाता है। स्वरों के इस प्रकार के अनुपात पर राग का स्वरूप भी निर्भर रहता है। इस अनुपात को बदलने से राग भी बदल जाते हैं। जैसे देशकार-भूपाली, भैरव कालिंगड़ा आदि।

(ii) संगीत में स्वर संवादों का आधार अनुपात है। सा म, सा प तथा सा ग स्वर संवादों के रूप में यह अनुपात संगीत में प्राप्त है।

(iii) संगीत में प्रस्तुतिकरण के समय आलाप, तान आदि की मात्रा का भी अनुपात रखना पड़ता है। जैसे बड़ा ख्याल आलाप की अधिकतायुक्त होता है तो तानों के अधिक चमत्कार छोटे ख्याल में दिखाए जाते हैं। इसी प्रकार ध्रुवपद धमार से पूर्व नोमतोम के आलाप बहुतायत से किए जाते हैं, जबकि बड़े ख्याल के साथ तालबद्ध आलाप होते हैं।

(iv) प्रत्येक ताल की मात्राओं के विभाजन (विभागों) में एक अनुपात रहता है, जैसे 3-4-3-4 अथवा 2-3-2-3 अथवा 4-4-4-4 आदि।

(v) राग के वादी स्वर के आधार पर, सप्तक का वही भाग दूसरे भाग (पूर्व अथवा उत्तर) के अनुपात में अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, जिसे संगीत में पूर्वांगप्रधान अथवा उत्तरांगप्रधान के नाम से जाना जाता है।

(vi) कण्ठ तथा वाद्य संगीत में तबले अथवा ताल की तुलना में स्वरों का महत्त्व अधिक होता है। जबकि नृत्य में तबले का महत्त्व अनुपाततः अधिक होता है।

(vii) विभिन्न अलंकारों—कण, मींड, गमक आदि का प्रयोग एक अनुपात में राग की प्रकृति के अनुसार किया जाता है।

(2) **समता एवं संयोजन** (Symmetry)—संगीत में हमें समता के निम्न रूप दिखाई देते हैं—

(i) राग प्रस्तुतीकरण में पूर्ण सप्तक के संयोजन के लिए वादी संवादी स्वर अलग-अलग भाग में होते हैं। जैसे यदि वादी स्वर सप्तक के पूर्वांग में है तो संवादी उत्तरांग में तथा वादी उत्तरांग में हो तो संवादी पूर्वांग में होता है। दोनों पूर्वांग व उत्तरांग में नहीं होते।

(ii) सप्तक के पूर्वांग में यदि दोनों गंधार प्रयुक्त होते हैं तो उत्तरांग में दोनों निषाद लगते हैं। इसी प्रकार पूर्वांग में रे दुर्बल हो तो उत्तरांग में ध भी दुर्बल रहता है, जैसे बिहाग। यही पूर्वांग व उत्तरांग की समरूपता है।

(iii) थाट राग वर्गीकरण का आधार तीव्र, कोमल स्वरों की समता ही है।

(iv) रागांग राग वर्गीकरण का आधार समता ही है। इस समता का आधार है रागांग, जिसके कारण भिन्न रागें एक थाट में मानी जाती हैं।

(v) अनेक बंदिशों का उठाव तथा चलन भिन्न होने पर भी समता ही वह गुण है जिससे वे एक राग की बंदिशें मानी जाती हैं।

(vi) बंदिश की (रचना की) प्रकृति तथा चलन के अनुसार उससे

समता रखने वाली तालें हैं, जैसे ध्रुवपद के लिए खुले बालों (पखावज के बोलों) वाली चौताल, आड़ाचौताल, सूलताल आदि तो छोटे ख्याल के लिए त्रिताल, झपताल, इकताल आदि ।

(vii) वाद्यों का चतुर्विध वर्गीकरण वाद्यों में पाई जाने वाली समता के आधार पर ही आधारित है ।

(3) **संगति अथवा ऐक्य** (Harmony)—विभिन्नताओं को इस प्रकार दर्शाना कि वे दूसरे की विरोधी न लगकर सुन्दर लगें, यही संगति है । संगीत में संगति के कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

(i) अनेक स्वरों (वादी, संवादी, विवादी) का प्रयोग होने पर भी संगति के कारण ही वे सब एक निश्चित राग को ही इंगित करते हैं ।

(ii) राग का विस्तार (आलाप तानें) अलग-अलग गायक, वादक द्वारा भिन्न होने पर भी उनमें रागात्मक ऐक्य रहता है ।

(iii) मिश्रित रागों में दो से अधिक रागों का मिश्रण होता है, उनमें ऐक्य होता है और पैच-वर्क की तरह न लगकर वह वही राग विशेष लगता है । जैसे गौडमल्हार तथा जयजयवंती आदि रागें । इसी प्रकार छायालग रागों में दो विशेष रागों का मिश्रण संगति का उत्तम व मधुरता युक्त उदाहरण है । यह संगति स्वाभाविक जान पड़ती है, जैसे—पूरियाकल्याण, बसंतबहार, नटबिहाग आदि रागें ।

(iv) गायन वादन में ताल के करतब—दुगुन, तिगुन, चौगुन, आड़-कुवाड़ आदि अथवा विभिन्न प्रकार के मुखड़े लेकर सम पर आकर मिलना संगति के कारण संभव है ।

(v) रचना की चल रही लय से 16 गुनी अथवा 8 गुनी लय में तानें गाकर फिर बंदिश उसी लय में गाना संगति का उदाहरण है ।

(vi) राग में आविर्भाव व तिरोभाव दिखाना भी संगति का उदाहरण है ।

(vii) तानपुरे की रचना (प सां सां सा अथवा म सां सां सा आदि) संगति का सर्वोत्तम उदाहरण है ।

(4) **सन्तुलन** (Balance)—गायक अथवा वादक कृति में जो कुछ प्रस्तुत करता है, उसके विविध आयामों में सन्तुलन होना आवश्यक है । यह संगीत में भी पाया जाता है ।

(i) प्रस्तुति के समय गीत, आलाप, तान, लयकारियां तिहाइयां आदि की मात्रा में सन्तुलन रखा जाता है । यह सन्तुलन अनुपात के माध्यम से किया जाता है ।

(ii) कला तथा भाव पक्ष दोनों का संतुलन रखा जाता है, केवल

गणितीय आधार पर बुद्धि को चमत्कृत करने वाला भावहीन संगीत नहीं होता वरन् दोनों पक्ष रहते हैं।

(iii) लय में बराबर संतुलन रहता है, ध्रुवपद धमार में चाहे कितनी ही लयकारियां की जाय पर तबले पर ताल उसी लय में चलती रहती है जिससे सम्पूर्ण गायकी में संतुलन बना रहता है।

(5) **विविधता** (Variety)—प्लैटो ने विविधता में सौन्दर्य माना है तो कालिदास ने नवीनता में। विविधता ही नवीनता पैदा करती है जिसे हम कल्पना के द्वारा पैदा करते हैं। संगीत में विविधता अथवा नवीनता निम्न रूपों में पायी जाती है—

(i) रचना (बंदिश अथवा गत) के अतिरिक्त गायक, वादक जो भी प्रस्तुत करते हैं उसमें हमेशा विविधता व नवीनता होती है। हर गायक, वादक की प्रस्तुति भिन्न होती है, यहाँ तक कि एक ही गायक अथवा वादक अपनी हर प्रस्तुति में कुछ-न-कुछ नवीनता पैदा करता है। यही कारण है कि हमारे राग कभी पुराने नहीं होते।

(ii) अलग-अलग घरानों की प्रस्तुति का तरीका (कोई स्वर प्रधान गायकी अथवा कोई लय प्रधान गायकी) भी विविधता को दर्शाता है। इसी प्रकार वाद्यों की बाज (शैली) उनमें विविधता व नवीनता पैदा करती है।

(iii) समय-समय पर नवीन रागों का जन्म होता है जो और अधिक नवीनता की द्योतक होती हैं। अप्रचलित राग इसी प्रकार के राग हैं। इसके अतिरिक्त मधुवंती, जोगकौंस, जोग, वैरागीभैरव आदि ऐसे ही राग हैं।

(6) **स्थायित्व**—स्थायित्व शब्द का प्रयोग हम कला में दो रूपों में कर सकते हैं, एक किसी भी कलाकृति की स्थायी छवि—जैसे स्त्री की यदि मूर्ति अथवा चित्र बनाया जाय तो स्त्रियोचित बातें (केश, बिंदी, शरीर में लचक, साड़ी आदि) दिखाने से, वह स्त्री लगती है। दूसरे अर्थ में कला के सौन्दर्य का जो प्रभाव है, वह स्थायी होना चाहिए। संगीत में भी स्थायित्व के दोनों रूप पाए जाते हैं।

संगीत में समय, काल, प्रस्तुतकर्त्ता, शैली अथवा माध्यम (गायन या वादन) कुछ भी हो पर राग की छवि वही रहती है जो निश्चित है। जिस प्रकार कृष्ण की तस्वीर मुगल शैली अथवा राजस्थानी शैली अथवा आधुनिक शैली किसी में भी बनी हो पर कृष्ण की छवि को सूचित करने वाली बातें (मुकट, मुरली] स्थायी हैं। इसी प्रकार राग यमन का रूप, भिन्न

बंदिश, शैली, गायक, वादक अथवा स्थान हो तब भी, वही रहता है। यही हमारे रागों का स्थायित्व है।

दूसरे रूप में संगीत के प्रभाव में भी स्थायित्व होता है। कृति के लोप होते ही उसका प्रभाव नष्ट नहीं होता वरन् उससे प्राप्त आनन्द बना रहे, भारतीय संगीत इस प्रकार का प्रभाव पैदा करने में समर्थ है। किसी संगीत के आयोजन को सुनने अथवा देखने पर कुछ स्थल; जैसे विशेष स्वर संगति, विशिष्ट जटिल तान आदि होते हैं; जिनका प्रभाव आयोजन समाप्ति के बाद भी बना रहता है। हम वैसा प्रयास करते हैं, गुनगुनाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य श्रोताओं से मिलने पर कलाकार के उन सौन्दर्य स्थलों के बारे में चर्चा तथा प्रशंसा भी करते हैं। यह उस कलाकार की कृति के प्रभाव के स्थायित्व का ही द्योतक है।

(7) **जटिलता** (Intricacy)—चूंकि आधुनिक युग विज्ञान का युग है अत: हर क्षेत्र में बुद्धि को प्रधानता दी जाती है। जटिलता का सम्बन्ध भी बुद्धि से है। यह बुद्धि से ही पैदा की जा सकती है और बुद्धि को ही चमत्कृत करती है। कभी-कभी जो चित्र पहेली रूप में हो अथवा उसका संदेश स्पष्ट न होकर किसी माध्यम से हो तो उसकी यह रहस्यमयता ही उसका सौन्दर्य होता है। लखनऊ की भूलभुलैया अपनी जटिलता के कारण ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार संगीत में भी गायक-वादक सौन्दर्य वृद्धि के लिए कुछ जटिलताओं का प्रयोग करते हैं। कुल दो-तीन स्वरों के इर्द-गिर्द ही गला घुमाकर लम्बी तान लेना जटिलता का एक उदाहरण है। इसी प्रकार तबले के साथ खिल-वाड़ जैसे जिस प्रकार का टुकड़ा तबले पर बजे वैसा ही वाद्य पर बजाना अथवा गाना आदि। जैसे धाधाकिट का सा सा नि़सा, धागे धागे किट का सारे सारे नि़सा आदि। यह जुगलबंदी सुनकर ही महसूस की जा सकती है। आज की गायकी तथा वादन में इस प्रकार की बुद्धि को चमत्कृत करने वाली अनेक जटिलताएँ पेश की जाती हैं। इनको सुनकर ही समझा या जाना जा सकता है, केवल लिखकर नहीं।

(8) **भाव तथा आनन्द**—कला के लिए यह कहा जाता है कि रूप तथा भाव का समुचित समन्वय ही उसका सौन्दर्य है। अत: सौन्दर्य के लिए कला में भाव (अभिव्यक्ति तथा पैदा करना) दोनों रूपों में होना चाहिए। अर्थात् कला द्वारा कलाकार के भावों की अभिव्यक्ति भी हो तथा उनका संप्रेषण अथवा दृष्टा श्रोता में भाव पैदा करने की शक्ति भी हो। इन्हीं भावों से रसों की निष्पत्ति अथवा आनन्द प्राप्ति होती है। संगीत द्वारा भावों की अभि-व्यक्ति तथा आनन्दानुभूति दोनों कार्य पूर्ण होते हैं। चूंकि संगीत प्रारम्भ से

ही अध्यात्मप्रधान रहा है अतः इसके द्वारा शृंगार (दास्य, वात्सल्य, विरह, मिलन, शिकायत, रूठना, मनाना), करुण, वीर तथा शांत रसों की निष्पत्ति प्रमुख रूप में की जाती है तथा संगीत श्रोताओं को आनन्दित करता है। यह आनन्द आत्मिक आनन्द होता है। संगीत का सौन्दर्य सदैव प्रभावकारी व सजीव और सरस होता है। यह आनन्द उच्च कोटि का होता है, केवल ऐन्द्रिय अथवा बाह्य नहीं होता। संगीत से प्राप्त आनन्द की स्थिति Self awareness की होती है। भावों की अभिव्यक्ति तथा भावोत्पत्ति का सशक्त व सबल माध्यम संगीत है।

उपरोक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सौन्दर्य के सभी प्रमुख तत्त्व—अनुपात, संयोजन, संगति, नवीनता, जटिलता, भाव आदि संगीत में मौजूद हैं। इन तत्वों को, संगीत में किस रूप तथा प्रकार में, पाया जाता है, इस पर विचार भी किया।

अध्याय 7

संगीत में सौन्दर्योत्पत्ति

प्रत्येक कला में सौन्दर्य पैदा करने के लिए कुछ साधनों का प्रयोग किया जाता है। जहाँ काव्य में उपमा, भाषा, छन्द, अलंकार आदि अनेक माध्यमों का प्रयोग होता है, वहीं चित्रकला में दृश्यों, रंगों व अनेक प्रकार की सजावट की वस्तुएँ इंगित की जाती हैं। स्थापत्य में खुदाई, कटाई, मीनाकारी, नक्काशी आदि द्वारा सौन्दर्य पैदा किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि संगीत में भी सौन्दर्योत्पत्ति के कुछ साधन, माध्यम अवश्य होंगे। इस अध्याय में हम उन्हीं साधनों का अध्ययन करेंगे जिनके द्वारा संगीत में सौन्दर्य पैदा किया जाता है। एक कलाकार अपनी कृति में किस प्रकार स्वर, अलंकार, लय, रचना आदि के माध्यम से सौन्दर्य पैदा करता है, इसका विश्लेषण हम यहां करेंगे।

हिन्दुस्तानी संगीत में राग का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण उसे 'रागदारी संगीत' भी कहा जाता है। अतः राग की प्रस्तुति में किन-किन तत्त्वों के द्वारा सौन्दर्य भरा जा सकता है, यही मुख्य तथ्य है। प्रत्येक राग का अपना व्यक्तित्व व सौन्दर्य होता है, उसे बनाए रखने में, राग के दस लक्षणों का प्रयोग, उसकी प्रकृति के अनुरूप अलंकारों (मींड, गमक, खटके, कण, घसीट, जमजमा आदि) का प्रयोग; आलाप तान, उसके वादी संवादी विवादी स्वर, आदि अनेक आयामों का प्रयोग किया जाता है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ विचारक संगीत में सौन्दर्य को उसकी गतिशीलता में देखते हैं। यहां हम उन सभी बिन्दुओं का उल्लेख करेंगे, जिनके द्वारा संगीत में सौन्दर्योत्पत्ति में सहायता मिलती है। सौन्दर्योत्पत्ति के कुछ आधार निम्न हैं—

(1) **राग के दस लक्षण**—विकास की दृष्टि से राग को जाति का ही विकसित रूप माना जा सकता है। इसीलिए भरत द्वारा बताए गये जाति लक्षणों को ही राग के प्रमुख लक्षणों के रूप में स्वीकारा गया है। ये लक्षण—ग्रह, अंश, तार-मन्द्र , न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, औड़व तथा षाड़व हैं। ये दस लक्षण राग में किस प्रकार सौन्दर्य निर्मिति में सहायता करते हैं, उनके योगदान को हम निम्न रूपों में पाते हैं—

ग्रह स्वर—जिस स्वर से गायन वादन आरम्भ किया जाता है, उसे ग्रह स्वर कहा जाता है। यों तो आधुनिक समय में षड़ज को ही प्रत्येक राग का प्रारम्भक स्वर माना जाता है, तथापि कुछ रागों में षड़ज से भिन्न स्वर प्रारम्भक स्वर के स्वरूप में प्राप्त होते हैं तथा ये ही स्वर उस राग का सौन्दर्य होते हैं। इसके कुछ उदाहरण हम दे सकते हैं—

(i) आलाप तान का प्रारम्भक स्वर जैसे बिहाग में सा ग म के स्थान पर नि़ सा ग म लेना। इसी प्रकार कल्याण में सम्पूर्ण होने पर भी सा रे ग म के स्थान पर नि़ रे ग म लिया जाता है। इन रागों का सौन्दर्य इस प्रकार के उठाव में ही है।

(ii) राग का प्रमुख अंग का आरम्भिक स्वर भी षड़ज से भिन्न होता है जैसे जयजयवंती में ध़ नि़ रे।

अंश स्वर—भरत ने अंश स्वर की व्याख्या में कहा है कि अंश स्वर उसको कहना चाहिए जो राग तथा रंजकता का आवास हो, राग रंग या रस की उत्पत्ति में मुख्य अंग अथवा उपकरण हो। अंश स्वर राग का प्राण होते हैं। इनकी संख्या एक से अधिक भी हो सकती है। आज भी हम अनेक रागों में एक से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वर पाते हैं, जिनको केन्द्र बिन्दु मानकर आलापचारी की जाती है। जैसे कल्याण, तोडी मालकौंस आदि अनेक ऐसे राग हैं, जिनके अनेक स्वर महत्त्वपूर्ण हैं व उन्हें विश्रांतिस्थान के रूप में काम में लाया जाता है। ये भिन्न विश्रांतिस्थल राग में विविधता व नवीनता द्वारा सौन्दर्य बढ़ाते हैं।

न्यास-अपन्यास—जिस प्रकार भाषा में, विराम चिन्हों का महत्त्व होता है, उसी प्रकार संगीत में न्यास-अपन्यास अर्थात् विराम और ठहराव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रागों का स्वरूप स्वरों के इसी विशेष ठहराव पर निर्भर करता है। देशकार-भूपाली, मारवा-पूरिया, ये ऐसे राग हैं, जिनमें स्वर ठहराव भिन्न हैं और इसी में इनका व्यक्तित्व व सौन्दर्य निहित है।

तार-मंद्र—सप्तक के तीन प्रकार मंद्र, मध्य तथा तार हैं। समान-स्वर समुदाय इन स्थान भेदों के कारण भिन्न प्रभाव पैदा करते हैं। इन सप्तकों का सम्बन्ध लय से जोड़ा गया है। मंद्र को विलम्बित लय से, मध्य को मध्यलय से, तथा तार को द्रुतलय से संबंधित किया गया है। इसी प्रकार राग की प्रकृति का सम्बन्ध भी तार मंद्र से होता है। जैसे मारवा दरबारी कान्हड़ा आदि रागों की प्रकृति गम्भीर है, अतः इन रागों में स्वर विस्तार मंद्र सप्तक में किया जाता है और मंद्र सप्तक में ही ये राग सुन्दर लगते हैं।

इसी प्रकार चंचल प्रकृति के राग बहार, बसंत आदि तार सप्तक में गाये जाते हैं व सुन्दर लगते हैं।

अल्पत्व-बहुत्व—राग में किसी स्वर का प्रयोग बहुतायत में हो तो बहुत्व तथा कम मात्रा में होने पर अल्पत्व कहलाता है। बहुत को अलंघन तथा अभ्यास द्वारा दिखाया जाता है। यह अभ्यास आन्दोलन द्वारा दिखाया जाता है। जैसे—दरबारी का गंधार तथा भैरव के रिषभ, धैवत। इन स्वरों को आन्दोलित करने में ही राग का सौन्दर्य है। इसी प्रकार किसी स्वर को छोड़ दिया जाय अथवा मनाक् स्पर्श वक्र रूप में हो तब उसे लंघन (छोड़ देना) अनभ्यास (स्पर्श मात्र) अल्पत्व कहा जाता है। जैसे—मारवा में रे ध का बहुत्व तथा ग नि का अल्पत्व है और पूरिया में ग नि का बहुत्व तथा रे ध का अल्पत्व है। इन रागों का स्वरूप सौन्दर्य इन स्वरों के अल्पत्व बहुत्व पर ही निर्भर करता है।

औड़व-षाड़व—ये शब्द राग में लगने वाले स्वरों की संख्या के सूचक हैं। 5 स्वर युक्त राग औड़व तथा 6 स्वरों से युक्त राग षाड़व कहलाते हैं। औड़व जाति के स्वरों का अन्तराल बड़ा होता है, इस प्रकार के अन्तरालयुक्त रागों का अपना सौन्दर्य होता है। जैसे—हिण्डोल, मालकौंस आदि। इन रागों का सौन्दर्य उसमें न लगने वाले स्वरों को वर्ज्य करके गाने में ही है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि राग के ये दस लक्षण राग में सौन्दर्य पैदा करने में बहुत सहायक होते हैं। इन दस लक्षणों के अतिरिक्त कुछ अन्य बिन्दु हैं जो संगीत में सौन्दर्य पैदा करते हैं—

(2) **वादी-संवादी तथा विवादी स्वर**—सप्तक के दोनों भाग पूर्वांग तथा उत्तरांग को संभाले रखने में वादी संवादी स्वरों का योग होता है। यही कारण है कि वादी संवादी दोनों स्वर सप्तक के अलग-अलग भाग में होते हैं तथा राग के पूर्ण विस्तार में सहयोग करते हैं, विश्रांति स्थल बनते हैं तथा प्रस्तुति में सौन्दर्यवर्द्धन करते हैं। वादी स्वर के आधार पर ही राग पूर्वांग वादी (मंद्र मध्य सप्तक में) तथा उत्तरांगवादी (तार व मध्य सप्तक प्रधान) होते हैं तथा इन पर राग का बहुत कुछ सौन्दर्य निर्भर करता है।

इसी प्रकार विवादी स्वर राग में सौन्दर्य को बढ़ाता है। अभिनव राग मंजरी में विवादी स्वर के विषय में कहा है—

सुप्रमाणयुतो रागे विवादी रक्तिवर्धकः।
यथैवत् कृष्णवर्णेन शुभ्रस्यातिविचित्रता॥

अर्थात् विवादी स्वर के स्वल्प प्रयोग द्वारा राग को सुन्दर बनाया जा

सकता है। जैसे यमन में दो शुद्ध ग के बीच शुद्ध म का प्रयोग, छायानट में कोमल नि का प्रयोग, बिहाग में तीव्र म का प्रयोग कर्णप्रिय लगता है, अर्थात् वे सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

(3) **आविर्भाव-तिरोभाव**—गायन वादन में एक राग की प्रस्तुति करते-करते बीच में दूसरे राग की छाया पैदा करना तथा फिर पूर्व राग में आना आविर्भाव-तिरोभाव है। नवीन राग की छाया तथा फिर से पूर्व राग में प्रवेश ये दोनों ही स्थल सौन्दर्योत्पत्ति करते हैं।

(4) **स्वर एवं सौन्दर्य**—ग्रह, अंश अथवा वादी, संवादी, विवादी आदि स्वरों की सांगितिक संज्ञाएँ हैं। इनका महत्त्व राग के सौन्दर्य को बढ़ाने में बहुत है, यह हमने उदाहरण सहित देखा परन्तु स्वरों के सांगितिक रूपों के अतिरिक्त भी स्वरों के माध्यम से सौन्दर्य पैदा किया जाता है। स्वरों के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों से, सूक्ष्म सौन्दर्य स्थलों से भी सौन्दर्य बढ़ाया जाता है। स्वरों के किन-किन रूपों से अथवा किस भिन्न प्रकार के प्रयोग से सौन्दर्य बढ़ाया जा सकता है, इस पर हम विचार करेंगे—

(i) 'कण स्वर' के माध्यम से प्रमुख स्वर को सौन्दर्य प्रदान किया जाता है। भारतीय संगीत में कभी भी खड़े स्वरों का प्रयोग नहीं होता है। अत: प्रत्येक स्वर के चारों ओर जो स्थल है, वही स्थल 'सौन्दर्य स्थल' है, जिसे 'Halo' कहा गया है। किस स्वर पर, किस स्वर का कण (पूर्व स्वर का अथवा उत्तर स्वर का) लगा, इसी में उस राग विशेष का सौन्दर्य निहित होता है। जैसे शंकरा में गपरेगसा, अर्थात् गंधार पर रिषभ का कण, अथवा मियाँमल्हार के गंधार को आन्दोलित करते समय मध्यम का कण, ये ही इन रागों के सौन्दर्य में सहायक स्थल हैं।

(ii) 'स्थिर स्वर'—एक ओर स्वर को कण स्वर से सजाया जाता है तो दूसरी ओर उसे एकदम स्थिर करके लगाने में अपना सौन्दर्य है। संगीत में प्राय: सा म प सां अथवा कोई प्रमुख विश्रांति स्थल इसी श्रेणी के स्वर हैं। इन स्वरों पर ठहराव दिखाते समय स्वर स्थिर व अधिक देर तक लगाया जाता है। यह स्पंदन रहित स्थिरता इन स्वरों की प्रस्तुति में सौन्दर्य भरती है।

(iii) स्वर को लगाना ही नहीं वरन् उसे छोड़ने का तरीका भी सौन्दर्य पैदा करता है। जैसे काफी देर पंचम लगाने के बाद श्वास समाप्त हो, इससे पहले छोटी-सी तान का टुकड़ा लेकर स्वर को छोड़ना यथा—प..............पमगरेगमप। इस प्रकार छोड़ा गया स्वर सौन्दर्य स्थल होता है।

(iv) कण्ठ संगीत में मींड तथा गजवाद्यों में सूत द्वारा सौन्दर्य पैदा

किया जाता है। छायानट की परे की मींड अथवा जैजैवंती में परे की मींड सौन्दर्यवर्द्धक हैं। इसी प्रकार कुछ राग मींड युक्त गायकी में खिलते है, जैसे मेघ राग।

(v) गम्भीर व धीर प्रकृति के रागों में गमक द्वारा सौन्दर्य पैदा किया जाता है। जैसे दरबारी कान्हड़ा में गमक का प्रयोग और भी गम्भीरता पैदा करता है। इसी प्रकार स्वरों को आन्दोलित करके सौन्दर्य लाया जाता है।

(vi) छोटी-छोटी तानों, मुर्की तथा स्वरों के पलटे बीच-बीच में प्रयोग कर सौन्दर्य पैदा किया जाता है।

(5) **ताल-लय एवं सौन्दर्य**—संगीत में ताल-लय का विशेष महत्व है। ताल तथा लय का विभिन्न प्रकार से प्रयोग करके कृति में सुन्दरता पैदा की जाती है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(i) विभिन्न प्रकार की लयकारियां जैसे ध्रुवपद, धमार आदि में दुगुन, तिगुन, चौगुन, छगुन, उपज आदि लेकर सम पर मिलना, यही ध्रुवपद धमार की प्रस्तुति में सौन्दर्य पैदा करते हैं।

(ii) छोटे ख्याल में ताल की समान लय अर्थात् बराबर की लय के आलाप सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

(iii) बड़े ख्यालों में आलाप से तानों तक, इसी प्रकार विलम्बित गत में तानों की प्रस्तुति में गायक वादक, प्रस्तुति में लय क्रमश: बढ़ाते हैं जबकि तबले पर वही लय चलती है। तानों में तो 16 गुनी तथा 24 गुनी लय (एक मात्रा में 16 स्वर) की तानें तक गाते बजाते हैं। जो कृति में सौन्दर्य पैदा करती है।

(iv) सितार आदि वाद्यों में झाला तथा कण्ठ संगीत में तराना द्रुत लय की ऐसी कृतियां हैं जो संगीत सभा में आनन्द का वातावरण बनाती हैं। इनकी द्रुत गति में ही सौन्दर्य होता है।

(v) लय के साथ साथ ताल के साथ अठखेलियां करना, जैसे मुखड़े की विभिन्न तिहाइयां लेना, तबले के बोलों के अनुरूप स्वर-गुच्छ प्रस्तुत करना आदि सौन्दर्य पैदा करते हैं।

(vi) वैसे तो ध्रुवपद में चौताल, आड़ाचौताल आदि पखावज के खुले बोलों वाली तालें काम में आती हैं। कुछ ध्रुवपदों के शब्दों के अनुरूप ये तालें (खुले बोल) रचना की प्रस्तुति में चार चांद लगा देती हैं। जैसे—आई ये घटा उमड़ घुमड़ घुमड़ घुमड़ घोर, इस प्रकार के ध्रुवपद वर्षा ऋतु के बादलों के गर्जन व बिजुरी के तर्जन को बताते हैं और ये ताल उस वर्षाकालीन वातावरण के वर्णन को सजीवता प्रदान करती हैं।

(6) **उत्कण्ठा एवं सौन्दर्य**—उपरोक्त वर्णित स्वर, ताल तथा लय सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ विचारक संगीत में सौन्दर्योत्पत्ति का एक अन्य आधार बिन्दु 'उत्कण्ठा' को बताते हैं। इन विचारकों के अनुसार श्रोताओं में उत्कण्ठा पैदा करना, उसको चरम सीमा तक पहुंचाना तथा उसका विसर्जन करना, इस प्रक्रिया द्वारा कलाकार सौन्दर्य पैदा करता है। इन तीन चरणों में संगीत का सम्पूर्ण सौन्दर्य छिपा रहता है। इसको 'Tension and resolution' के सिद्धान्त द्वारा समझा जा सकता है। राग के आलाप में उत्कण्ठा को जागृत किया जाता है, आलाप की बढ़त के साथ उसका विकास (चरम सीमा) होता है तथा मुखड़े के साथ सम पर आना उस उत्कण्ठा का विसर्जन है, यही गायन वादन का मूल सौन्दर्य है।

श्री रानाडे ने उत्कण्ठा के सम्बन्ध में निम्न बातें कही हैं—

(i) आलाप में कौनसा स्वर अथवा समुदाय लगेगा, यह उत्कण्ठा जागृत करना ही सौन्दर्य स्थल है।

(ii) सा, म तथा प राग की उत्कण्ठा के विसर्जन के सौन्दर्य स्थल हैं।

(iii) सा, म, प के निकटवर्ती स्वर उत्कण्ठा जागृत करने के सौन्दर्य स्थल हैं।

(iv) ताल में सम से पहले की मात्रा में मुखड़ा लेकर या तिहाई लेकर सम पर मिलना उत्कण्ठा विसर्जन का सौन्दर्य स्थल है।

उत्कण्ठा जागृत करना तथा उसका विसजन कलाकार किस-किस प्रकार कर सकता है, इसके कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(i) राग में तिरोभाव (दूसरी राग की छाया) द्वारा उत्कण्ठा पैदा की जाती है तथा आविर्भाव द्वारा उसका विसर्जन।

(ii) सा, म, प तथा सां, इनके पूर्व स्वर उत्कण्ठा जागृति के स्थल हैं, जैसे बिहाग में—ग म प नि, नि............नि, इस प्रकार की प्रस्तुति पर श्रोता को ऐसा लगा कि अब कलाकार सां लगाने वाला है, लेकिन गायक लौट आता है। नि ध प अथवा नि से सीधा मन्द्र नि लगाता है। नि.... नि़....सा, नि़सा गमप गम ग, रेसा अथवा नि के बाद तार षड़ज न लगाकर मध्य षड़ज लगा देता है नि- -सा, निसागमग-रेसा। इसी प्रकार वह अपनी कल्पना के अनुसार करता है।

(iii) इसी प्रकार पंचम या तार सा का दीर्घ करना (देर तक लगाना) उत्कण्ठा जागृत करता है कि अब श्वास समाप्त होते ही स्वर भी छोड़ दिया जाएगा पर कलाकार श्वास समाप्त होने से पहले ही छोटी-सी तान लेता है व फिर स्वर छोड़ता है, यह उत्कण्ठा विसर्जन का सौन्दर्य स्थल है। जैसे—

बिन्द्राबनी सारंग में प............पमरेसानिसारेमप, अथवा सां...............
निसांनिरेंसांरेंनिसां आदि ।

(iv) मूल लय में बीच में विषम लय द्वारा उत्कण्ठा पैदा करना तथा पुनः मूल लय में आकर विसर्जन करना ।

(v) विभिन्न प्रकार की तिहाइयां—सम से काफी पहले आलाप समाप्त करने से श्रोताओं में उत्कण्ठा होती है, अरे अभी तो बहुत मात्राएँ हैं, आलाप खतम कर दिया ? लेकिन कलाकार तिहाइयां लेकर सम पर जब मिलता है, यह उत्कण्ठा विसर्जन सौन्दर्य पैदा करता है ।

(vi) आरोहात्मक गायन वादन द्वारा उत्कण्ठा जागृत करना तथा अवरोहात्मक द्वारा विसर्जन ।

(vii) मुखड़े को विभिन्न परिवर्तन के साथ गाना अथवा स्थाई तथा अन्तरे की पहली पंक्ति को विभिन्न प्रकार गाना उत्कण्ठा पैदा करता है । यही गायकी व नायकी का क्रम है ।

(viii) इसके अतिरिक्त सम से पहले सम दिखाना, सम के बाद सम दिखाना, फिर मूल सम में मिल जाना । मींड की समाप्ति उत्कण्ठा का विसर्जन स्थल है ।

संगीत इतनी विशाल तथा समृद्ध कला है कि कलाकार की जितनी क्षमता, कुशलता तथा गले की तैयारी होगी, वह राग में उतना ही सौन्दर्य भर सकता है ।

(7) **गतिशीलता एवं सौन्दर्य**—कुछ विचारक, संगीतज्ञ संगीत में सौन्दर्य, उसकी गतिशीलता में मानते हैं । सुगन लैंगर के अनुसार संगीत काल का प्रतिबिम्ब है । उसकी गति व कालिक सौन्दर्य में ही संगीत का सौन्दर्य-आदर्श छिपा है । कोई भी राग पूर्ण आकार अथवा रूप (सम्पूर्ण कृति एक साथ) में सुनाई नहीं देता वरन् धीरे-धीरे सौन्दर्य का अनावरण होता है । पिछला आंशिक सौन्दर्य आगामी सौन्दर्य की पूर्णता के साथ एकाकार होता जाता है । आलाप मुखड़े में व मुखड़ा सम में लीन हो जाता है । भूत, वर्तमान तथा भविष्य की एक शृंखला बन जाती है । प्रत्यक्ष सौन्दर्य क्षण भर में लुप्त हो जाता है और अप्रत्यक्ष सौन्दर्य साकार हो उठता है । इस गति में ही संगीत का सौन्दर्य है ।

इसी प्रकार का मत सुधा श्रीवास्तव ने दिया है । उनके अनुसार राग प्रस्तुतिकरण को पूर्ण स्थूल सौन्दर्य का रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संगीत में कलाकृति एक सम्पूर्ण तैयार वस्तु के रूप में प्रकट नहीं होती है वरन् एक एक करके सौन्दर्य के स्थूल रूप (रागों का स्थूल रूप सौन्दर्य) क्रम

में उभरते हैं और प्रत्येक स्थूल रूप का गायक अथवा वादक के आन्तरिक सूक्ष्म रूप (उसके मन में स्थित सूक्ष्म सौन्दर्य) से सम्बन्ध बना रहता है। इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। राग में सौन्दर्य के आधार, नादात्मक, कालिक तथा लयात्मक हैं। नादात्मक में स्वर सौन्दर्य; कण, मींड, गमक, स्वर को लगाना छोड़ना आदि बातें आती हैं। ये सभी सौन्दर्य के सूक्ष्म रूप हैं। इसे गणितीय अथवा वैज्ञानिक आधार द्वारा नहीं बताया जा सकता। तोड़ी का गंधार मुलतानी के गंधार से किस प्रकार भिन्न है, यह भिन्नता ही इन रागों का सौन्दर्य है।

कालिक अर्थात् गतिशीलता। सौन्दर्य का धीरे-धीरे अनावरण, कृति का बनते जाना और प्रस्तुति होती जाना। सौन्दर्य का यह रूप अर्थात् गतिशीलता अन्य कलाओं में उपलब्ध नहीं है। इसलिए संगीत को Moving art कहा गया है। काल तथा स्वर की इसी गतिशीलता में राग के सौन्दर्य का आदर्श छिपा रहता है।

उपरोक्त सभी मतों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि संगीत में राग के स्वरूप व नियमों को ध्यान में रखते हुए गायक वादक अपनी कुशलता अभ्यास तथा तैयारी द्वारा स्वर, ताल, राग के दस लक्षण आदि द्वारा अनेक प्रकार से सौन्दर्य पैदा कर सकता है। कभी-कभी कलाकार काकुभेद द्वारा गीत रचनाओं में सौन्दर्य पैदा करता है। ठुमरी, दादरा, कजरी आदि इसी प्रकार के गीत हैं। जैसे "कौन गली गये श्याम, बता दे सखीरी" इस ठुमरी में 'बतादे सखीरी' इन शब्दों को विभिन्न प्रकार से गाना (कभी विनती करने के अन्दाज में, कभी खुशामद करने के अन्दाज में तो कभी गुस्से में, कभी सखी से अधिकारपूर्वक पूछने) प्रस्तुति में सौन्दर्य वृद्धि करते हैं। संगीत के सृजन की प्रक्रिया में स्वर, लय, ताल, सौन्दर्य को निरन्तर जन्म देते रहते हैं। जहां सौन्दर्य के धरातल का स्पर्श होता है, कलाकार उन मार्मिक स्थलों की पुनरावृत्ति की चेष्टा करता है। विवादी स्वर का प्रयोग, थाट नियमों का उल्लंघन, बारहों स्वरों का प्रयोग आदि वह अपनी योग्यतानुसार करता है। कहां व कब कौनसी हरकत कृति में सौन्दर्य भर दे, यह सुनकर ही महसूस किया जा सकता है। प्रत्येक कलाकार (गायक वादक) उपरोक्त सभी माध्यमों का प्रयोग तथा अपनी योग्यता, कुशलता व कल्पना शक्ति के माध्यम से संगीत में सौन्दर्य पैदा करता है।

अध्याय 8

संगीत एवं रस

"ललित कलाओं का सृजन सौन्दर्य हेतु, प्रस्तुतीकरण सौन्दर्यपूर्ण और उपलब्धि सौन्दर्यानुभूति है" यह कथन सही है। सौन्दर्य का परिणाम है आनन्द, अतः कला के तत्वों में एक तत्व है सौन्दर्य, और सौन्दर्य के तत्वों में एक है आनन्द। अतः कला तथा आनन्द का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। सौन्दर्य केवल ऐन्द्रिय न हो, वरन् वह आत्मिक आनन्द प्रदान करे। यही आत्मिक आनन्द साहित्य की भाषा में रस नाम से अभिहित है। रस शब्द का प्रयोग परम सौन्दर्यानुभूति के सन्दर्भ में किया गया है। तैत्तरीय उपनिषद में कहा गया है कि 'रसोह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति ॥' कला का प्राण रस है और कला का लक्ष्य रसानुभूति। कलाकार अपनी कृति में अपने भावों को मूर्त रूप देकर व्यक्त करता है, वे ही भाव रस रूप में संचरित होकर दृष्टा अथवा श्रोता को आनन्द प्रदान करते हैं। संगीत में रसानुभूति किस प्रकार तथा किन-किन माध्यमों से होती है, यह जानने से पहले हमें रस के बारे में प्रमुख प्रमुख बातें जान लेनी चाहिए। रस क्या है, इसका भाव से क्या सम्बन्ध है, रस कितने हैं और इन रसों की निष्पत्ति किस प्रकार संभव है? आदि के बारे में संक्षिप्त जानकारी होना आवश्यक है। अतः हम यहां पहले रस के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे।

रस

'रस' की सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक चर्चा संस्कृत ग्रन्थों तथा साहित्य में की गई है। संस्कृत साहित्य व रस विचार को भिन्न भिन्न करके देखा नहीं जा सकता है। भरत के पूर्व भी भारतवर्ष में रस चर्चा अवश्य हुई होगी, परन्तु प्राप्त ग्रन्थों में, प्रथम, यथार्थ तथा समर्थ विवेचन भरत के नाट्य-शास्त्र में मिलता है। उनके द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धांत ही संस्कृत साहित्य में अमर हुआ है। नाट्य-शास्त्र के 6 तथा 7 अध्याय में रसों, भावों, विभावों, अनुभावों तथा संचारियों पर विचार हुआ है। भरत का ग्रन्थ यद्यपि मूल रूप में नाटक के संदर्भ में है इसलिए उन्होंने रसचर्चा नाट्य की पृष्ठभूमि में की है, तथापि काव्य तथा संगीत में भी उसकी चर्चा की है। भरत का रस

सिद्धान्त ही काव्य, साहित्य (नाटक, कहानी), संगीत आदि अन्य कलाओं पर लागू किया जाता है। भरत ने कहा है कि यदि किसी वाक्य को काव्य कहलाना हो तो उसे रसपूर्ण बन जाना चाहिए, अर्थात् रस काव्य की आवश्यक दशा है।

भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र के 6 अध्याय के 17वें श्लोक में लिखा है, "एते ह्यष्टोरसा: प्रौक्ता द्रुहिणेन् महात्मा।" इसी पूर्वपरिपाटी के आधार पर भरत ने 8 रस, 8 उसके स्थायी भाव, 33 व्यभिचारी भाव और 8 सात्विक भाव, इस प्रकार कुल 49 भावों की सूचि दी है।

रस तथा भाव

रसों के प्रमुख आधार भाव ही हैं। इन भावों को स्थायी भावों की संज्ञा दी गई है। हर सहृदय सामाजिक के हृदय में यह भाव रहते हैं तथा मानस के अर्द्ध चेतन अथवा अवचेतन भाग में छिपे रहते हैं। जब हम नाटक, काव्यादि में भाव विशेष का चित्रण पढ़ते या देखते हैं तो छिपा भाव उभर कर चेतन मन में उतरता नजर आता है और विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा पुष्ट होकर रस में परिणत होता है। तब वह असीम आनन्द प्रदान करता है। अतः भाव ही रस के आधार हैं। इसीलिए कहा है 'स्थायीभावा: रसमाप्नुवन्ति', भाव ही रस को प्राप्त होते हैं। जो भाव रस तक नहीं पहुंचते, वे विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का आश्रय लेते हैं।

भरत ने 8 स्थायी भाव तथा उसके अनुरूप 8 रस बताए हैं। अभिनव गुप्त ने सर्वप्रथम 'शांतरस' को स्थान देकर 'नवरसकल्पना' की। बाद के विज्ञजन मम्मट आदि ने भी रसों की संख्या 9 मानी है। ये स्थायी भाव तथा उनके रस निम्न हैं—

स्थायी भाव	**रस**
रति	शृंगार
हास	हास्य
शोक	करुण
क्रोध	रौद्र
उत्साह	वीर
भय	भयानक
जुगुप्सा	वीभत्स
विस्मय	अद्भुत
निर्वेग	शांत

इसके अतिरिक्त समय-समय पर विद्वानों ने अन्य रसों की चर्चा की यथा मधुसूदन सरस्वती तथा विश्वनाथ ने भक्ति रस तथा वात्सल्य रस को स्वतंत्र रस के रूप में माना। परन्तु आज भी मुख्य रूप से रस 8 अथवा 9 ही माने जाते हैं। भक्ति तथा वात्सल्य आदि को शृंगार रस के अन्तर्गत ही माना जाता है।

स्थायी भावों की तुलना समुद्र से की जाती है। जिस प्रकार समुद्र खारा तथा मीठा पानी और समस्त (अनेक) वस्तुओं को आत्मसात कर आत्मरूप बना लेता है, उसी प्रकार स्थायी भाव अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी भी भाव से विच्छिन्न नहीं होता तथा सभी को आत्मरूप बना लेता था। इस प्रकार रस के उपादान ये स्थायी भाव ही महत्त्वपूर्ण हैं।

रस निष्पत्ति

स्थायी भाव रसों के उपादान हैं, परन्तु ये भाव किस प्रकार रस में परिणत होते हैं अथवा किस क्रिया द्वारा वे रस रूप में अनुभावित होते हैं, इसके लिए भरत ने जो सूत्र दिया वह 'रससूत्र' के नाम से विख्यात है। इसी सूत्र की परवर्ती साहित्यकारों ने भिन्न भिन्न परिभाषा द्वारा विवेचना की है।

भरत के अनुसार—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न द्रव्यों के संयोग से 'षडरस व्यंजनों' का तथा औषधि द्रव्यों के संयोग से रसायन की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार अनेकानेक भावों के मिश्रण से स्थायी भाव रस तत्त्व में परिणत होते हैं। रसिक हृदय उन रसों का अनुभव करता है। भरतोक्त सूत्र में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव का नामोल्लेख हुआ है। ये सभी क्या हैं तथा रस निष्पत्ति में किस प्रकार सहायक होते हैं? यह जानने के लिए इनमें से प्रत्येक प्रकार के भाव के बारे में जानना जरूरी है।

विभाव

ये स्थायी भाव को रस तक पहुँचने में सामग्री जुटाकर सहायता करते हैं। विभाव का अर्थ है 'जिसका ज्ञान हो सके'। विभाव ही स्थायी भाव को पुष्ट करता है। विभाव के दो भेद हैं—आलम्बन तथा उद्दीपन। आलम्बन प्रायः व्यक्ति होता है तथा उद्दीपन देशकाल, प्रकृति आदि। जैसे किसी नाटक में नायक नायिका (राम, सीता, दुष्यन्त, शकुन्तला) आलम्बन

होते हैं। आलम्बन के माध्यम से जो भाव पैदा होता है अथवा जो भाव को उद्दीप्त करता है वह उद्दीपन होता है। जैसे—शकुन्तला का सुन्दर व यौवन सम्पन्न होना (आलम्बन स्वरूप) दुष्यन्त के हृदय में रति का भाव पैदा करता है। यहाँ शकुन्तला आलम्बन है। उस समय का एकान्त, मालिनी तट, कोयल की कूहू कूहू, बगीचे की शोभा आदि उस रति भाव को और बढ़ा रहे हैं। अत: ये सभी उद्दीपन विभाव हैं। इस प्रकार स्थायी भाव को विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) पुष्ट करता है। रति भाव को धारण करने के कारण दुष्यन्त आश्रय है।

अनुभाव

स्थायी भाव की सूचना देने वाले विकार अनुभाव कहलाते हैं। ये सामाजिकों को (रसिकों) स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। 'अनु' अर्थात् बाद में या पश्चात। आश्रय में स्थायी भाव उद्बुद्ध होने के बाद ये पैदा होते हैं, इसलिए इन्हें स्थायी भावों का कार्य माना जाता है। विभिन्न भावों के अनुसार अनुभाव भिन्न होते हैं। कुछ अनुभाव स्वर भंग, अश्रु, स्वेद, आँखें लाल होना, शरीर काँपना, चुप्पी साधना आदि हैं। अनुभाव प्राय: शारीरिक, मानसिक या आंगिक होते हैं। ये भावोत्पत्ति को सूचित करते हैं। आलम्बन के शारीरिक विकार अनुभाव नहीं होते वरन् वे उद्दीपन विभाव होते हैं। आश्रय (जिसमें भाव पैदा हो) के विकार ही अनुभाव कहलाते हैं।

व्यभिचारी अथवा संचारी भाव

जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं तथा उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी स्थायी भाव में कभी आविर्भूत होते हैं, कभी तिरोहित। ये भाव भी स्थायी भाव के अभिप्रेरित कार्य निर्माण में सहायक होते हैं। व्यभिचारी भाव 33 होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, असूया, मद, आलस्य, चिंता, मोह, स्मृति, व्रीडा, चपलता, आवेग, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क। इन व्यभिचारी भावों के बिना रसों को पूर्णत्व प्राप्त नहीं हो सकता।

सात्विक भाव

भरत ने 8 स्थायी भाव, 33 व्यभिचारी भावों के अतिरिक्त 8 सात्विक

भाव बताए हैं। सत्व का अर्थ है मन से उत्पन्न। ये मन की एकाग्रता से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सात्विक भावों में अनुभावतत्व होता है, वे अनुभावों की तरह ही आश्रय के विकार हैं, तथापि इन्हें सत्व (मानसिक स्थिति) से उत्पन्न होने के कारण भाव की संज्ञा दी जाती है। एक ओर ये सत्व से उत्पन्न होने के कारण भाव कहलाते हैं तो दूसरी ओर विकार रूप होने के कारण अनुभाव भी हैं। अत: ये सात्विक भाव तथा अनुभाव दो रूपों से युक्त हैं। सात्विक भाव हैं—स्तम्भ (अंगों का निष्क्रिय हो जाना), प्रलय (अचेतना), रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य (मुंह का रंग फीका पड़ जाना), वेपथु (कम्प), अश्रु तथा वैस्वर्य (आवाज में परिवर्तन)।

रस-निष्पत्ति

भरत द्वारा दिया गया सूत्र 'विभानुभाव............' ही परवर्ती विज्ञजनों ने माना है। परन्तु उसी सूत्र की व्याख्या उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। उसी रससूत्र की व्याख्या में लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने अपने अपने रस सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित किया है। इनकी व्याख्या की भिन्नता का कारण है इनका भिन्न मतावलम्बी होना, कोई मीमांसक है तो कोई नैयायिक और कोई सांख्य। अत: इनकी व्याख्या पर इन मतों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यहां हम प्रमुख रसशास्त्रियों के मतों का उल्लेख करेंगे।

लोल्लट

लोल्लट का रस सिद्धान्त 'उत्पत्तिवाद' के नाम से विख्यात है। लोल्लट ने सर्वप्रथम भरत के रस-परक सिद्धान्त की व्याख्या की। भरत सूत्र की व्याख्या उन्होंने इस इस प्रकार की—'संयोगात्' अर्थात् कार्यकारण भाव रूप सम्बन्ध तथा 'निष्पत्ति' अर्थात् उत्पत्ति। चूंकि लोल्लट मीमांसक थे इसलिए उन्होंने कार्यकारण वाद की कल्पना पर उत्पत्तिवाद को जन्म दिया। विभाव अनुभाव आदि उत्पादक हैं और रस उत्पाद्य। उनके अनुसार जो भाव नायिका (आलम्बन विभाव) द्वारा उत्पादित होता है तथा उद्दीपन व संचारी भावों से पुष्ट होता है, वही भाव रस रूप में उत्पन्न होता है। यह रस नट या सामाजिक (दृष्टा, श्रोता) के हृदय में पैदा नहीं होता वरन् राम या दुष्यन्त बना पात्र ही इस रस का अनुभव करते हैं। इस प्रकार रस की स्थिति वे राम आदि पात्रों में मानते हैं न कि सहृदयों में। अभिनेता जिस पात्र को जीता है उस पात्र में रस रहता है, सहृदय लोग भ्रांति से उस

अभिनेता को राम अथवा दुष्यन्त समझ लेते हैं और आनन्दित होते हैं। अभिनेता या नट तो रस प्रतीति कराने का एक माध्यम मात्र हैं।

लोल्लट का यह मत पूर्ण नहीं है। सामाजिक में रस की स्थिति न मानना ही इसका दोष है। पात्रों में रस की स्थिति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि राम आदि पात्र तो अतीत में थे। वर्तमान समय में तो रसास्वादन कर्त्ता सामाजिक ही है। यदि अभिनेता स्वयं रस में डूब कर अभिनय न करे तो सही भाव पैदा ही नहीं होंगे। हम कई बार नाटक देखकर कहते हैं कि राम का अभिनय प्रभावित नहीं कर सका, आनन्द नहीं आया। इसका अर्थ यही है कि अभिनेता ने सजीव, सरस अभिनय नहीं किया। यदि पात्र में ही रस होता तो अभिनय चाहे जैसा होने पर भी रस की स्थिति बनी रहनी चाहिए थी। इसके अलावा लोल्लट की विभावादि तथा रस में कार्यकारण वाद की जो कल्पना है उसका खण्डन भी अभिनवगुप्त ने किया है।

शंकुक

शंकुक का मत 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शंकुक मूलतः नैयायिक थे। इन्होंने सर्वप्रथम लोल्लट के मत का खण्डन किया। लोल्लट के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रस की अनुमिति कराते हैं। जैसे हम पर्वत पर धुआ देखकर यह अनुमिति करते हैं कि पर्वत पर अग्नि है, उसी प्रकार नट में रामादि के समान अनुभाव देखकर हम उसमें रस की अनुमिति करते हैं। इस प्रकार विभावादि रस के 'अनुमापक' हैं न कि 'कारण', इसी प्रकार रस 'कार्य' न होकर 'अनुमाप्य' है। जिस प्रकार चित्र में घोड़ा वास्तविक न होने पर भी हमें उसे घोड़ा मानना पड़ता है, उसी प्रकार नट राम नहीं होता फिर भी सामाजिक उसे राम समझता है। नट के द्वारा भाव का प्रकाशन देखकर अनुमान कर लेता है कि उसके हृदय में भाव रसरूप में परिणत हो रहे हैं। यह अनुभूति अनुभव करते समय रसपूर्ण होती है इसलिए सामाजिक स्वयं भी रसानुभूति (रसानुभव) करने लगता है। 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अनुमिति'।

शंकुक भी मूलरूप में रस पात्रों में ही मानते हैं, परन्तु उन्होंने लोल्लट की भाँति सामाजिकों को सर्वथा रसशून्य नहीं माना है। शुंकुक के अनुसार भ्रांति से रस का अनुमान नट में किया जाता है, परन्तु सहृदयों का अनुभव बताता है कि रसों को साक्षात अनुभव किया जाता है। रस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। अतः रस की केवल अनुमान के आधार पर कल्पना करना ठीक नहीं है।

भट्टनायक

भट्टनायक ने रस के सम्बन्ध में 'भुक्तिवादी' सिद्धान्त दिया है। ये रस के सम्बन्ध में उत्पत्ति, अनुमिति अथवा अभिव्यक्ति वाले सिद्धान्तों को नहीं मानते हैं। इन्होंने भरतोक्त रससूत्र के 'संयोगात्' व 'निष्पत्ति' शब्दों के भिन्न अर्थ लिए हैं। उनके अनुसार संयोगात् का अर्थ है 'भाव्यभावक सम्बन्ध' और निष्पत्ति का अर्थ है 'भुक्ति' (आस्वाद)। वे रस की स्थिति सहृदय में पूर्णत: सिद्ध करते हैं। भट्टनायक सांख्यमतानुयायी थे तथा साधारणीकरण सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्त्तक। उनके इसी सिद्धान्त का आगे चलकर अभिनवगुप्त ने विस्तार किया। भट्टनायक के अनुसार विभाव, अनुभाव आदि रस के 'भोजक' हैं तथा रस 'भोज्य'। उन्होंने 'भावकत्व व्यापार' तथा 'भोजकत्व व्यापार' शब्दों का प्रयोग किया है।

भट्टनायक के अनुसार सामाजिक सर्वप्रथम काव्य की अभिधा शक्ति द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करता है, फिर रामादि पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य करता है, यह भावकत्व व्यापार है, जिसके द्वारा रामादि पात्र अपना व्यक्तित्व छोड़कर साधारणीकृत हो जाते हैं। इस समय सहृदय की बुद्धि में रजस् और तमस् गुण नष्ट हो जाते हैं, केवल सत्व रहता है। अत: वह लौकिक इच्छाओं में स्वतन्त्र हो जाता है। उसे जो रसास्वादन होता है, उसका साधन है भोजकत्व व्यापार। अभिनव गुप्त ने इसके विरोध में कहा है कि भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। अत: यह कल्पना है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त एक ओर शैव दार्शनिक थे तो दूसरी ओर व्यंजनावादी तथा ध्वनिवादी, इसलिए उनका रस सिद्धान्त दोनों से प्रभावित था। अपने दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार के कारण इनका मत रसशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र में विशिष्ट स्थान तथा प्रसिद्धि पा सका। अभिनवगुप्त का मत 'व्यक्तिवाद' के नाम से जाना जाता है। ये रस को ध्वनि का एक प्रमुख भेद रसध्वनि मानते हैं, इसी कारण वे रस को व्यंग्य मानते हैं। भरत सूत्र की व्याख्या करते समय अभिनवगुप्त ने 'संयोगात्' का अर्थ 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावरुपात्' तथा निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति से लिया है। अभिनव-गुप्त रस की स्थिति सहृदय में मानते हैं तथा रसदशा को शैवों की 'विमर्श-दशा' से जोड़ा है। विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि भाव रस के अभिव्यंजक हैं और रस अभिव्यंग्य।

अभिनवगुप्त के अनुसार जीवन में हम कई प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। ये अनुभव हमारे मानस में रति, शोक आदि भावों की स्थिति को जन्म देते हैं। प्रत्येक सहृदय काव्य पढ़ता या नाटक देखता है तो उसमें वर्णित विभावादि उसके मानस में छिपे अव्यक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं। और वह भाव रस रूप में व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि रसास्वादन सहृदय ही करता है क्योंकि इसके लिए पूर्व संस्कार अपेक्षित हैं। ये रस लौकिक भावों के अनुभव से पूर्णतया भिन्न होता है, तभी इसे अलौकिक तथा 'ब्रह्मास्वादसहोदर' बताया जाता है। इस समय सहृदय अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। यह दशा एक योगी की दशा के समान है। जहां साधक 'शिवोऽहम्' का अनुभव करता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार उपरोक्त अलौकिक दशा के लिए आवश्यक है कि विभावादि अपने वैयक्तिक रूप को छोड़ दें तथा सहृदय भी निर्वैयक्तिकता धारण करले। ऐसी स्थिति में राम, सीता आदि अपने व्यक्तित्व को छोड़कर नायक नायिका के रूप में हमारे सामने आते हैं तथा सामाजिक केवल रसानुभव करता है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि विभावादि केवल विषयमात्र तथा सामाजिक केवल विषयीमात्र रह जाता है, यही साधारणीकरण कहलाता है। यह साधारणीकरण केवल विभाव (आलम्बन) अथवा आश्रय का ही नहीं होता वरन् सभी तत्वों का होता है। उस दशा में राग, द्वेष आदि लुप्त हो जाते हैं, तब रसानुभूति का अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

अभिनवगुप्त ने नये रस 'शांतरस' की नवें रस के रूप में स्थापना की। अभिनवगुप्त का यही रस सिद्धान्त मम्मट से लेकर जगन्नाथ पण्डितराज तक मान्य रहा। यही कारण है कि उन्हें अलंकार शास्त्र में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर उनकी 'लोचन' नामक टीका तथा भरत के नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव भारती' टीका अमूल्य कृतियाँ हैं। यद्यपि ये दोनों टीकाग्रन्थ हैं तथापि अलंकारशास्त्र तथा रसशास्त्र में इनका स्थान आकर-ग्रन्थों के समान है।

उपरोक्त सभी मतों के विश्लेषण से एक बात स्पष्ट है कि रस चर्चा प्राचीन आचार्यों ने नाटक के संदर्भ में ही की है। भरत से लेकर अभिनव-गुप्त तथा परवर्ती विज्ञजन मम्मट, मधुसूदन सरस्वती, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ पंडितराज तक, सभी ने रस निष्पत्ति नायक, पात्र के माध्यम से बतायी है। अतः नाट्य से ही रस निष्पत्ति को प्रमुख रूप से जोड़ा गया है। भरत ने अपने रससूत्र की व्याख्या नाट्य के परिप्रेक्ष्य में ही की है, तथापि वही व्याख्या अन्य सभी ललित कलाओं पर भी लागू होती है। काव्य चित्र

तथा संगीत कला के लिए रसनिष्पत्ति सम्बन्धी कोई अन्य सूत्र अलग से नहीं है।

संगीत एवं भाव तथा रस

रस के सम्बन्ध में उपरोक्त जानकारी के बाद हम संगीत एवं रस का सम्बन्ध क्या है, इस पर गौर करेंगे। संगीत के संदर्भ में रस से सम्बन्धित हमारे समक्ष कुछ प्रश्न आते हैं, जैसे संगीत तथा रस का सम्बन्ध कब से है? यह सम्बन्ध किस प्रकार का है? संगीत में रस-निष्पत्ति प्रक्रिया किस प्रकार संभव व सम्पन्न होती है? संगीत में रसनिष्पत्ति में सहायक साधन अथवा तत्व कौन-कौनसे हैं? यहां हम उपरोक्त सभी प्रश्नों पर विचार करेंगे।

संगीत तथा रस का सम्बन्ध इस युग की कोई नवीन देन नहीं है। यह सम्बन्ध बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है। जिस प्रकार संगीत का प्राचीनतम तथा प्राप्य ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है, उसी प्रकार 'संगीत एवं रस' का सम्बन्ध विवेचन भी सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है। यों तो नाट्यशास्त्र मूलरूप में नाटक से सम्बन्धित ग्रन्थ ही है। परन्तु भरतमुनि ने चूँकि संगीत को नाटक की शैया के रूप में माना है, इसलिए संगीत सम्बन्धी जानकारी भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। भरत ने नाट्य के अन्तर्गत संगीत का प्रयोग, विविध रसों की सृष्टि में सहयोगी बताया है, इसलिए संगीत तथा रस की चर्चा भी इसमें की गई है। संगीत के इसी महत्व के कारण नाट्यशास्त्र के 28 तथा 29वें अध्याय में संगीत सम्बन्धी विषयों के साथ-साथ रसों का विवेचन भी कियागया है। विभिन्न रसों के अनुरूप स्वर, वाद्ययंत्रों के प्रयोग आदि का निर्देश भी किया गया है। भरत ने स्वरनिर्देश निम्न प्रकार किया है—

सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धा, वीभत्से भयानके।
कार्यो गनीं तु करुणहास्यशृंगारयोर्मपौ ।।

अर्थात्

सा, रे—वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों के
ध—वीभत्स तथा भयानक रसों का
ग, नि—करुण रस के तथा
म, प—हास्य तथा शृंगार रसों के पोषक हैं।

भरत काल में संगीत का प्रयोग नाटक के भावों को उद्दीप्त करने तथा उस भाव के अनुकूल वातावरण तैयार करने के लिए मुख्य रूप से किया जाता था, इसीलिए संगीत को नाटक की शैया कहा गया है। ध्रुवा गीत के पांच प्रकार—प्रवेशिकी, आक्षेणिकी, प्रसादिकी, अन्तरा तथा नैष्क्रामिकी आदि नाटक में प्रचलित थे। इनमें से चित्त की प्रसन्नता की सूचक ध्रुवा तथा

प्रसादिकी थी। असन्तुलन को व्यक्त करने अथवा नाट्य में उत्पन्न दोष दूर करने के लिए अन्तरा तथा ध्रुवा थी। किसी विशिष्ट प्रसंग की मार्मिक अभिव्यंजना गीतों द्वारा की जाती थी। जहां काव्य की अभिव्यंजना शक्ति क्षीण हो जाती थी, वहां इष्ट अर्थ की सिद्धि गीत के माध्यम से होती थी। स्वर के अतिरिक्त भरत ने लय का सम्बन्ध भी रसों से बताया। उनके अनुसार प्रसंगानुकूल लय का प्रयोग होता था, जैसे—वीर रस के लिए 'उल्लसन' तथा करुण रस के लिए 'जम्भलिका' नामक लय प्रकार प्रयोग में लाये जाते थे। रुदन, उत्पात आदि पर ध्रुवा गीत नहीं गाया जाता था।

भरतकालीन इस परिपाक की धारणा आज तक अबाध रूप से चली आ रही है। सभी ने संगीत का प्रयोजन रस परिपाक बताया तथा जातियों अथवा रागों में उससे सम्बद्ध रसों की चर्चा की है। अंश स्वर को प्रधानतया रस का आधार व अभिव्यंजक बताया है। भरत के मतानुसार तत्वृन्द में गायक, तत्वाद्यों, सुशिरवाद्यों एवं घन वाद्यों का सामूहिक रस परिपाक में अपना अपना महत्व होता है। यह परम्परा शार्ङ्गदेव तक चली।

तेरहवीं शताब्दी में तथा बाद के कुछ वर्षों में संगीत का सम्बन्ध रस से टूटा। अमीर खुसरो के समक्ष भी रस परिपाक की धारणा नहीं थी। राग, ताल, लय आदि से रस का सम्बन्ध उल्लेख उसके ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। मानसिंह के काल में ध्रुवपद प्रचलन के साथ ही रागों का सम्बन्ध रस व भावों से पुनः जोड़ा गया। रागों के रूप तथा ध्यान की कल्पना इसी रस सम्बन्धों के परिणाम थे। रागों की प्रकृति के अनुकूल उनके ध्यान रचे गये और रागचित्र भी बनाए गये। इस समय भक्तिप्रधान पदों की संख्या बहुत थी जो ध्रुवपद के गीत रूप में थे, अतः उनमें भावों की प्रधानता भी थी। सूर, परमानन्द, वल्लभाचार्य, हरिदास की रचनाएँ व गायकी, भाव प्रधान व रसपूर्ण होने के उदाहरण हैं। तब से आज तक संगीत एवं रस का सम्बन्ध बराबर कायम है। यह बात अलग है कि उस समय की रागों के रस आज की रागों के रस से भिन्न थे। इस भिन्नता का कारण रागों के स्वर तथा स्वरों के रूप की भिन्नता रहा है परन्तु रस परिपाक की धारणा उस समय प्रधान थी। वन से हरिणों का आना, पत्थर पिघलना, बादलों का छाना अथवा वर्षा होना आदि ऐसे उदाहरण हैं जो भावप्रधान संगीत को इंगित करते हैं।

वर्तमान समय में भी संगीत का अटूट सम्बन्ध भावों तथा रसों से माना जाता है। संगीत का प्रयोजन श्रोताओं को आनन्द देना है और इस आनन्द की चरमावस्था ही रसास्वादन है। यही आनन्द गायन, वादन तथा नृत्य

की आत्मा है। पं. भातखण्डे जी ने प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत में रसों का समावेश स्वरों के आधार पर किया है। रागों के तीनों वर्गों में रसों की स्थिति इस प्रकार बतायी गयी है—

(1) कोमल रे ध युक्त संधिप्रकाश राग—इन रागों में शान्त तथा करुण रस की प्रधानता होती है। जैसे भैरव, भारवा, जोगिया आदि।

(2) शुद्ध रे ध युक्त राग—इन रागों में शृंगार रस की ही अधिकता होती है। जैसे—बिलावल, गौड़सारंग, देशकार आदि।

(3) कोमल ग नि युक्त राग—ये राग वीररस प्रधान होते हैं। आसावरी, मालकौंस, बागेश्री आदि।

भातखण्डे जी का यह रसविषयक मत सर्वसम्मत नहीं है। अनेक विद्वान संगीत में रस पर विभिन्न विचार रखते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मालकौंस, दरबारी, जयजयवंती आदि शांत तथा शृंगार रस के स्रोत हैं तो शंकरा हिण्डोल वीररस प्रधान हैं। छायानट, बागेश्री, बिहाग आदि शृंगार रस प्रधान हैं। भैरवी का मूलभाव करुणा और पूरिया का कार्य है उदासीन भावों की अभिव्यक्ति।

इसी प्रकार विभिन्न संगीतज्ञों में इस विषय पर मतभेद है कि कौनसे राग किस रस अथवा भाव के पोषक हैं, परन्तु यह सभी मानते हैं कि संगीत द्वारा भावों व रसों की सृष्टि होती है। रागों के तथा स्वरों के तीव्र कोमल होने के अतिरिक्त संगीत की एक और विधा ताल तथा लय भी रसों से सम्बन्धित माने गये हैं।

तथा लया हास्यशृंगारयोर्मध्यमाः।
वीभत्सभयानकयोर्विलंबितः ।।
वीररौद्राद्भुतेषु च द्रुत।

अर्थात्
मध्यलय—हास्य तथा शृंगार रसों की
विलम्बित—वीभत्स, भयानक रसों की
द्रुत—वीर, रौद्र व अद्भुत रसों की पोषक लय है।

अतः संगीत में रस की निष्पत्ति केवल स्वर अथवा राग के ही द्वारा नहीं होती वरन् लय भी एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इसके अतिरिक्त संगीत के अन्य तत्व भी रसनिष्पत्ति अथवा रसों से सम्बन्धित होते हैं। अतः हम उन तत्वों पर विचार करेंगे।

संगीत में रसनिष्पत्ति के आधार

रस संगीत की आत्मा है। उस रस के परिपाक में संगीत के अनेक

घटक सहयोगी होते हैं। जिस प्रकार एक नाटक में भाषा, अभिनयकर्त्ता, वेषभूषा, प्राकृतिक दृश्यावलीयुक्त पर्दे, नेपथ्य संगीत आदि ऐसे तत्व हैं, जो घटित घटना के भाव को प्रकट करने तथा उसके अनुकूल रस सृष्टि में सहायक होते हैं। इसी प्रकार संगीत में भी नाद, श्रुति, राग, स्वर, रचना, ताल, वाद्य आदि ऐसे साधन अथवा तत्व हैं, जिनके माध्यम से रसों की सृष्टि संभव होती है। यहां हम उन्हीं आधारभूत साधनों का उल्लेख कर रहे हैं —

(1) **नाद**—संगीत का मूल आधार नाद ही है, अतः उसका महत्व रस-निष्पत्ति में होना स्वाभाविक होता है। नाद मधुर तथा मनोहर होने पर ही सुनने की इच्छा होती है और तन्मयता आती है। नाद में वह शक्ति है जो जड़ प्रकृति को भी प्रभावित करती है। औंकारनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है, "संगीत में शब्द के अर्थ का बोध हुए बिना ही भाव या रस की प्रतीति हो जाती है। यहाँ तक कि शब्द हो या न हो, नाद के बल से संगीत में रस-निष्पत्ति हो जाती है। इसी से यह मानना पड़ता है कि नाद में कोई शक्ति सन्निहित है, जो कि शब्दों की वाचक शक्ति की सहायता के बिना ही अर्थाभाव या रस की प्रतीति करा देती है।" नाद के महत्व को बताते हुए इसी प्रकार का मत आचार्य वृहस्पति ने दिया है। उन्होंने कहा "भाषा की अपेक्षा नाद के प्रभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है। भाषा भले ही कभी-कभी ठीक से मनोभावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ न हो पर नाद कभी असफल नहीं होता। नादसौन्दर्यजनित आनन्द का अनुभव प्रत्येक को होता है। गायक सार्थक शब्दों का आश्रय लिए बिना ही स्वर संचालित शुष्काक्षरों अथवा आलापों द्वारा जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे साधारण प्राणियों और श्रोताओं के हृदय में चेतना का अनुभव करा देता है, जिसे रस कहा जाता है।" अतः यह कहना गलत न होगा कि नाद ही संगीत में रस-निष्पत्ति का मूलभूत साधन है।

(2) **श्रुति**—शास्त्रकारों ने संगीत में श्रुतिसंख्या 22 मानी है। इन श्रुतियों को उनके गुणानुसार भिन्न जातियों में बांटा गया था। जातिगायन काल में ये श्रुतियाँ ही रस-निष्पत्ति का साधन मानी जाती थीं। ये जिन पांच जातियों में विभक्त थीं, उनके नाम—दीप्ता, आयता, मध्या, मृदु तथा करुणा थे। अहोबल ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इन जातियों में रसों की स्थिति निम्न प्रकार से मानी गयी है—

श्रुति की जाति	रस
दीप्ता	वीर, अद्‌भुत तथा रौद्र रस
आयता	हास्य रस
मध्या	वीभत्स, भयानक, हास्यव्यंग, श्रृंगार, वियोग रस
मृदु	श्रृंगार रस
करुणा	दैन्य तथा करुण रस

मध्यकाल तक श्रुतियों द्वारा ही रस-निष्पत्ति मानी जाती थी। जिस जाती की श्रुति हो, उस जाति से संबंधित रस ही उस श्रुति के लिए मान्य था।

आज हम श्रुतियों का सम्बन्ध उपरोक्त प्रकार से रसों से नहीं जोड़ते तथापि श्रुतियाँ रस से सम्बन्धित हैं, यह तो मानना ही पड़ता है। जैसे दरबारी के ग का आन्दोलन। जब हम कहते हैं दरबारी का ग नीचा है, इसका अर्थ है किसी श्रुति विशेष का प्रयोग उसके आन्दोलन में है और यही आन्दोलन उसे गाम्भीर्य प्रदान करता है। भैरव का रे रामकली या कालिंगड़ा के रे से भिन्न है, जो करुण रस पैदा करता है, अतः यह कोमल रे ही नहीं है वरन् उसमें कुछ और है, वह है श्रुति प्रयोग।

(3) **स्वर**—संगीत का शरीर अथवा व्यक्तित्व ही स्वरों के ताने-बाने में निहित है। अतः प्राचीन समय से ही स्वरों का रस से सम्बन्ध मान्य रहा है। भरत से लेकर मातखण्डे तक सभी ने समयानुसार स्वरों के सम्बन्धित भाव तथा उनसे निष्पादित रसों का वर्णन किया है। प्राचीन शास्त्रकारों ने तो स्वर का आवश्यक गुण अथवा तत्व उसमें रंजकता होना माना है।

शार्ङ्गदेव के अनुसार—

भावी यः स्निग्धोऽनोरणात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचितं सः स्वर उच्चयते॥

इसी प्रकार की बात दामोदर पण्डित ने की है—

स्निग्धश्च रंजकश्चासौ स्वरः इत्यभिधीयते।
स्वयं यो राजते नादः स स्वरः परिकीर्तितः॥

दोनों ही में इस बात को स्वीकारा गया है कि जो बिना किसी सहायता

के स्वयं सुशोभित हो तथा रंजन करने (आनन्द देने में) में समर्थ हो, वह स्वर है। स्वर के अनेक रूपों द्वारा रस प्रक्रिया संभव होती है। स्वर के वादी संवादी रूप द्वारा रस की अनुभूति होती है। स्वर के विविध प्रस्तुतीकरण के तरीके जैसे गमक, मींड, कण, खटका, आन्दोलन आदि, स्वरों की संख्यानुकूल जाति; सम्पूर्ण, षाड़व तथा औड़व, स्वर के सप्तक, तार, मध्य तथा मंद्र आदि सभी भेद रसों को प्रभावित करते हैं। इनमें परिवर्तन द्वारा भाव अथवा रस में भी परिवर्तन होता है। स्वरों के अल्पत्व बहुत्व तथा वादी संवादी से राग बदलते तथा साथ ही रस बदल जाता है। अत: संगीत में रस को नियंत्रित करने वाला प्रमुख घटक स्वर है।

(4) **राग**—गायन की कोई भी विधा हो जातिगायन अथवा राग-रागिनी अथवा रागदारी, सभी राग के ही रूप कहे जा सकते हैं। जिस स्वर विशेष का, जो रस शास्त्रकार मानते हैं, उन स्वरों से युक्त होने के कारण, उस राग विशेष का वही रस माना जाता है। जैसे कोमल रे ध करुण रस के पोषक हैं तो इनसे युक्त भैरव, जोगिया आदि करुणरसप्रधान राग माने जाते हैं। ग नि का कोमल होना शृंगार रससूचक है तो काफी, बागेश्री, खमाज आदि शृंगार रसप्रधान राग माने जाते हैं। यद्यपि रागों के रस क्या हैं, इस पर निश्चित मत नहीं है, तथापि राग रसनिष्पत्ति का साधन है, यह सर्वसम्मति से मान्य है। भारतीय संगीत चूंकि रागप्रधान संगीत है, इसलिए वाद्य संगीत हो अथवा कण्ठ संगीत भाव और रस का आधार राग ही होते हैं। राग की परिभाषा में संगीत शास्त्रकारों ने अन्य तत्वों के साथ राग को रंजन शक्ति को भी स्थान दिया है। यथा 'रजको जन चित्तानाम् स राग कथितो बुधे: ।' अत: राग में यदि चित्त को आनन्दित अथवा रसानुभूति कराने की क्षमता नहीं है तो वह राग नहीं। राग के दस लक्षण रसनिष्पत्ति में सहायक होते हैं। राग ही वह आधार है जो बिना शब्द, ताल वाद्य की सहायता के भाव पैदा करने में सक्षम है। स्वर एवं श्रुति की जो भाव तथा रस पैदा करने की क्षमता है वह राग के सन्दर्भ में ही साकार तथा मूर्त होती है। राग के बिना स्वरों का कोई आधारस्वरूप नहीं होता। श्रुति, स्वर का अस्तित्व, महत्ता तथा कार्यक्षमता राग में ही संभव है। अत: इनके सहयोग से राग ही रूप धारण करता है और रस प्लावित करने में समर्थ होता है। 'स्वर' शीर्षक में जितने भी स्वर के स्वरूप-भेद दिये हैं, उनका अस्तित्व राग के ढांचे में ही है, अन्यत्र नहीं।

(5) **प्रबन्ध**—संगीत में ध्रुवपद, धमार, ख्याल (बड़ा तथा छोटा),

तराना, ठुमरी आदि प्रबन्ध रचनाएँ हैं, जो अपनी शब्द रचना, गठन द्वारा विभिन्न रसों की उत्पत्ति करती हैं। ध्रुवपद द्वारा अधिकांशत: वीर, करुण तथा शांत रस, धमार द्वारा शृंगार रस की निष्पत्ति होती है। बड़े ख्याल तथा छोटे ख्याल द्वारा शब्दानुकूल अथवा रागानुकूल रसोत्पत्ति संभव होती है। टप्पा, तराना आदि से शृंगार, हास्य व रौद्र रस की सृष्टि होती है। ठुमरी, दादरा, चैती आदि शृंगार (संयोग, वियोग, रूठना, मनाना) भावों व रस-निष्पत्ति के लिए श्रेष्ठ कृति हैं। इसी प्रकार वाद्यों में जोड़ करुण व शांत रस, विलम्बित व द्रुत गत शृंगार रस तथा झाला रौद्र तथा अद्‌भुत रस के पोषक हैं। अत: सिद्ध है कि रचना भी रसोत्पत्ति में एक महत्वपूर्ण घटक है।

(6) **वाद्य**—वाद्य अपनी आवाज के आधार पर विभिन्न रसों की निष्पत्ति करते हैं। मोटी आवाज हमेशा गाम्भीर्य पैदा करती है, चाहे वह पुरुष की हो या किसी वाद्य की। इसीलिए मियाँमल्हार, दरबारी कान्हड़ा अथवा भारवा आदि रागों की अवतारणा जितनी स्वाभाविक पुरुष कण्ठ से होती है, उतनी स्त्रीकण्ठ से नहीं। इसी प्रकार वाद्यों में भी भारी (मोटी) आवाज वाले वाद्य (बड़ी बांसुरी), वीणा, सारंगी, वायलिन आदि शांत, करुण व गम्भीर वातावरण व रस पैदा करते हैं। दूसरी ओर पतली आवाज वाले वाद्य जैसे सितार, मुरली (छोटी बांसुरी), शहनाई आदि शृंगार रस में सहायक होते हैं। श्रीकृष्ण बांसुरी से रतिभाव ही पैदा करते थे, इसी प्रकार विवाह आदि मांगलिक व शृंगारिक वातावरण में शहनाई प्रयोग में लायी जाती रही है। इसी प्रकार कुछ वाद्य जैसे मंजीरे, करताल, घन्टे-घड़ियाल आदि भक्ति रस निष्पादित करते हैं।

संगीत में ताल वाद्यों का भी रस-निष्पत्ति में महत्वपूर्ण स्थान है। मृदंग, नगाड़ा, ड्रम आदि वाद्य वीर तथा रौद्र रस के सहायक हैं तो ढोलक, तबला, ढप, खंजरी आदि शृंगार रस को पोषित करते हैं। वाद्यों के साथ-साथ इन पर बजने वाली तालों व लय का भी रस पर प्रभाव पड़ता है। विलम्बित लय के ठेके—तिलवाड़ा, इकताल, झूमरा, आदि करुण व शांत रस की प्रधानता लिए होते हैं। खुले बोलों के ठेके चौताल, आड़ाचौताल, सूलताल आदि वीर रस अथवा भक्ति रस प्लावित करते हैं। त्रिताल, झपताल, कहरवा, दादरा, द्रुत इकताल आदि तालें मध्यलययुक्त होती हैं तथा शृंगार रस में सहायक होती हैं।

ऊपर हमने अनेक तत्वों का विवेचन किया कि वे संगीत में किस प्रकार रसोत्पत्ति में सहायक होते हैं। तथापि यह कहना युक्तिसंगत होगा कि इन

सभी बातों के लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण, नियम अथवा कठोर बन्धन नहीं है। सितार शृंगार रस का पोषक है तब भी उस पर, दरबारी, मारवा भैरव अथवा तोड़ी आदि बजाकर उनके अनुरूप गाम्भीर्य पैदा किया जाता है तो वीणा अथवा वायलिन पर काफी, बागेश्री खमाज बजाकर शृंगार रस पैदा किया जा सकता है। अतः राग, ताल, लय, रचना, वाद्य तथा कलाकार का कौशल इन सभी के द्वारा संगीत में रस प्रभावित होता है। किसी एक तत्व का केवल राग का या केवल वाद्य का अथवा केवल बन्दिश के अनुकूल रस को पकड़ कर बैठना उचित नहीं है।

अध्याय 9

राग एवं रस

उच्च श्रेणी का काव्य वही है जो नवरस कल्पना को साकार कर सके, जो सभी रसों की उत्पत्ति करने में सफल हो। इसी प्रकार नाट्य में भी रसों की निष्पत्ति आवश्यक भी है तथा संभव भी। भरत का रससूत्र जिस प्रकार नाट्य पर तथा काव्य पर चरितार्थ होता है, क्या उसी रूप में संगीत पर भी होता है ? नहीं, काव्य तथा नाट्य में भाषा, संवाद, आश्रय, आलम्बन आदि ऐसे सशक्त माध्यम हैं जिनसे किसी भी रस का परिपाक संभव है। संगीत में किन-किन रसों की तथा किस सीमा तक निष्पत्ति संभव होती है, यह एक विकट प्रश्न है। चूँकि संगीत प्रारम्भ से ही धार्मिक परिवेश में पला व आश्रय पाता रहा, अत: सदा ही अध्यात्म की ओर उन्मुख रहा। जो कला अध्यात्म से संबंधित हो, जिसका उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति व भक्ति हो, जो आत्म-साक्षात्कार का माध्यम रही हो, उससे भयानक, वीभत्स आदि रसों की निष्पत्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिए और न ही यह संभव है। इसके अतिरिक्त राग का मूर्त न होना, शब्दाभाव आदि कुछ अन्य कारण भी हैं, जिनके द्वारा सभी रस निष्पादित नहीं किए जा सकते। संगीत का स्वरमाधुर्य, लयात्मकता तथा नवीन प्रस्तुतीकरण ऐसे आयाम हैं, जिनमें यह क्षमता तो होती है कि वे श्रोता-समूह को आनन्दविभोर कर देते हैं पर प्रत्येक रस को निष्पादित कर ही दें, यह कठिन है।

पिछले अध्याय में हम कह चुके हैं कि प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत में राग की प्रमुखता के कारण इसे विज्ञजन रागदारी संगीत की संज्ञा भी देते हैं। अत: संगीत (शास्त्रीय) का सीधा सम्बन्ध व निर्देश राग की ओर है। जब हम संगीत व रस की चर्चा करते हैं, तो मूल रूप में राग ही केन्द्र रूप में होता है। अत: हम इस अध्याय में राग एवं रस पर ही चर्चा करेंगे। राग द्वारा किन-किन रसों की निष्पत्ति संभव है ? राग के बताए गये रसों में वाद्यों अथवा तालों का क्या स्थान रहता है ? संगीत अथवा राग में रस का क्या अर्थ हमें लेना चाहिए आदि पर विस्तार से विश्लेषण करेंगे। इन सभी बातों पर विभिन्न संगीतज्ञों, शास्त्रकारों के मतों का उल्लेख भी करेंगे।

पिछले अध्याय में शास्त्रज्ञों के कुछ मत देखे कि वे किस प्रकार स्वर-विशेष के रस के कारण उस स्वरयुक्त राग को भी वही रसयुक्त मानते हैं। परन्तु यह बात बड़ी विचित्र है कि राग का विशेष रस मानने पर भी भिन्न बंदिश, भिन्न ताल तथा लय से रस-परिवर्तन संभव है। तब क्या यह मान लिया जाय कि राग को कोई निश्चित रस से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता ? इस सन्दर्भ में पं. रविशंकर कहते हैं "हर राग का अपना मूल रस होता है तथापि उस राग से उसी प्रकार के और रस भी सम्बद्ध हो सकते हैं अतः ऐसी अवस्था में भिन्न रसों की निष्पत्ति संभव है जैसे मैं राग मालकौंस बजाऊँ जिसका मुख्य भाव वीर रस है तो भी आलाप में शांत व करुण रस के निरूपण से आरम्भ करके जोड़ व झाला बजाने में वीर, अद्भुत और रौद्र रस में विकसित कर सकता हूँ। यह सभी तत्व प्रायोगिक अभ्यास से सिद्ध हो सकते हैं।"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी वाद्य विशेष की बजाने की जो शैली है, यदि कोई वादक उस पर दो भिन्न रसयुक्त राग, जैसे बिलावल तथा बागेश्री अथवा भैरव तथा मियाँमल्हार (दोनों अलग-अलग वर्गीकरण के राग हैं) को समान लय तथा समान बाज शैली में बजाएँ तो आलाप की धीमी गति में शान्त अथवा करुण रस ही पैदा होगा और झाले में समान तीव्रता लाने पर अद्भुत अथवा रौद्र रस पैदा होगा। इसी प्रकार हर राग का छोटा ख्याल समान भाव के शब्दों (शृंगारिक, रूठना, शिकायत, मनाना आदि) से युक्त होता है अतः उसकी अदायगी में समान रस पैदा होता है। जैसे दरबारी का छोटा ख्याल तथा छायानट का छोटा ख्याल समान रूप से शृंगारिक वातावरण बनाते हैं। इसी प्रकार दरबारी, भैरव, तोडी आदि के तराने वही भाव पैदा करते हैं जो गौडसारंग, बिहाग अथवा जयजयवंती का तराना करता है। इस बात को श्रोता बार-बार महसूस करते होंगे कि इस प्रकार की द्रुत रचनाओं में (तराना, छोटा ख्याल अथवा झाला) वीर, करुण व शान्त रसप्रधान रागों के वे रस दब जाते हैं तथा प्रायः शृंगार रस ही रहता है। यही कारण है कि दरबारीकान्हड़ा जैसे धीर गम्भीर राग का छोटा ख्याल 'घर जाने दे छाड मोरी बैया' उसी प्रकार का शृंगारिक प्रभाव डालता है, जैसा बिहाग या किसी अन्य राग का छोटा ख्याल।

फिर भी यह बात भी माननी पड़ती है कि रागों के अपने कुछ प्रभाव होते हैं जो एक विशेष तरह का वातावरण तैयार करने में सक्षम होते हैं। लेकिन रागों का यह प्रभावकारी स्वरूप आलापचारी अथवा विलम्बित रचनाओं में प्रस्फुटित होता है। राग का अपना निश्चित रस तथा रचना व

लयानुसार रस ये दोनों विरोधी बातें हैं। यदि राग का अपना रस हमें बनाये रखना है तो उस राग की भाव प्रधानता अथवा उसकी प्रकृति के अनुकूल हमें प्रस्तुतिकरण करना चाहिए। राग की यही प्रकृति रस विशेष की द्योतक होती है। रागों की प्रकृति गम्भीर, चंचल, शांत तथा शूद्र आदि नामों से जानी जाती है। यही प्रकृति, इससे सम्बन्धित रस व वातावरण पैदा करती है। अतः इस प्रकृति को बनाए रखने के लिए हमें उसी प्रकार की रचना, ताल, लय तथा सप्तक आदि का प्रयोग करना चाहिए। यदि ये घटक राग की प्रकृति के प्रतिकूल होंगे तो राग का प्रभाव कम हो जाएगा। जिस प्रकार ठुमरी दादरा के लिए काफी, खमाज, पीलू, भैरवी रागें हैं, इन्हें शृंगारयुक्त रागें माना जाता है तो इनमें बडे ख्याल, ध्रुवपद नहीं गाने चाहिए। ऐसी रचनाओं से इन रागों की चंचलता समाप्त हो जाती है। चूँकि हमारा संगीत रागप्रधान है, अतः हमें राग को ही प्रामुख्य देते हुए, उपरोक्त घटकों का प्रयोग, उस राग की प्रकृति, रूप, गुण को बनाए रखने के लिए ही करना चाहिए। इस संबंध में जी. एन. जोशी का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने कुछ बातें निषेधस्वरूप बतायी हैं जिसे 'Do not's' शीर्षक दिया है। ये बातें निम्न हैं—

(1) Do not present every raga with a set pattern.

अर्थात् हर राग को समान क्रिया—आलाप, बड़ा ख्याल, छोटा ख्याल आदि अथवा बड़े ख्याल में एक-सा स्वरूप रहे, बोल आलाप, आलाप, सरगम, तानें आदि द्वारा प्रस्तुत न किया जाय। राग की प्रकृति के अनुकूल यह क्रम बदल देना चाहिए।

(2) Do not disregard the Bandish and the mood of the Rag.

अर्थात् राग की प्रकृति की उपेक्षा न की जाय, साथ ही बंदिश अर्थात् बंदिश के बोल, ताल लय आदि के अनुरूप ही गायकी अथवा वादन होना चाहिए।

(3) Do not sing the Bandish incomplete and indistinct.

अर्थात् कण्ठ संगीत में कोई भी रचना हो, ध्रुवपद धमार, ख्याल, ठुमरी आदि उसे पहले पूरा तथा स्पष्ट उच्चारण में प्रस्तुत करना चाहिए क्योंकि इनके शब्द भी रस-निष्पत्ति में बहुत सहायक होते हैं। इसी प्रकार वाद्य संगीत में गत अथवा रचना जो भी हो वह पूरी व स्पष्ट हो, उसके बाद तानें, झाला आदि हों।

(4) Do not present every raga in all the three stages of Laya.

अर्थात् राग का जैसा रूप अथवा भाव हो, उसे उसी प्रकार की उययुक्त लय में प्रस्तुत करना चाहिए। जैसे भारवा, भैरव, दरबारी, जोगिया आदि में ध्रुवपद धमार तथा विलम्बित रचना (बड़े ख्याल आदि) हों ताकि इन रागों का गाम्भीर्य बना रहे। तराने आदि चपल रचनाओं को जहां तक हो, नकारा जाय।

(5) Do not sing every raga in all the three octives. The mood character of Rag should be the determining factor for it's field of movement.

अर्थात् राग के भावानुसार उसका विस्तार व प्रस्तुतिकरण उसके उपयुक्त सप्तक में किया जाना चाहिए। आधुनिक समय में प्राय: देखा जाता है कि सभी राग आरंभ में सा लगाने के बाद मंद्र, मध्य (पूर्वांग तथा उत्तरांग) एवं तार सप्तक में क्रमश: बढ़त के साथ गाये जाते हैं। जिस प्रकार दरबारी, मियाँमल्हार का स्वर विस्तार मंद्र से क्रमश: तार की ओर बढ़ता है, उसी तरह छायानट, बागेश्री, बिन्द्रावनीसारंग, मधुवंती आदि सभी रागों में भी यही क्रम रहता है, जबकि दोनों प्रकार के रागों की प्रकृति, भाव तथा उससे निष्पादित रस भिन्न हैं।

उपरोक्त निषेधात्मक बातों का यदि पालन किया जाय तो रागों के भाव, उसकी प्रकृति व उसके रस को बनाए रखा जा सकता है। भारवा में धैवत वादी स्वर है, तथापि मंद्र सप्तक में धैवत प्रधान आलाप, उसके गाम्भीर्य के जितने उपयुक्त हैं उतने मध्य सप्तक के धैवत युक्त नहीं। इसी प्रकार राग की प्रकृति व भाव के अनुरूप सप्तक व लय का चुनाव करना चाहिए। हिन्दुस्तानी संगीत का प्राण तथा प्रमुख आधार राग है, गायक वादक उसी को मूर्त रूप देते हैं तथा राग की ही अवतारणा श्रोताओं के सम्मुख की जाती है। अत: राग की प्रमुखता बनी रहे, इसके लिए उसके भावों व प्रकृति को ध्यान में रखना जरूरी है। रागों के ध्यान व रागचित्र रागों की इसी प्रकृति के अनुकूल ही रचे व बनाये गये थे।

प्राचीन समय में वैदिक, भरत तथा शार्ङ्गदेव के काल तक वाद्यों का प्रयोग स्वतंत्र वादन के रूप में नहीं था। वाद्य केवल गायक के सहायक के रूप में अथवा स्वर भरने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। परन्तु आधुनिक समय में वीणा, सितार, सारंगी, वायलिन, गिटार, बाँसुरी, शहनाई आदि सभी की स्वतन्त्र व विकसित वादन-शैली है तथा सम्पूर्ण शास्त्रीय संगीत की

अदायगी इन पर की जाती है। इन वाद्यों का प्रयोग रागानुकूल रस-निष्पादन में किया जाना चाहिए।

नाटक आदि में इन वाद्यों का अपना स्वतन्त्र रस होता है। किसी खुशी के वातावरण, शुभ समाचार अथवा मिलन आदि की खुशी के समय सितार की चपल झनकार उस प्रकार के अवसर के आगमन की सूचना देती है। हमें सितार अथवा बाँसुरी की धुन से ही लगता है कि कुछ अच्छा घटित होगा। इसी प्रकार वीणा अथवा सारंगी पर धीरे-धीरे बजने से लगता है कोई दुखद बात होगी। नगाड़े व तूर्यवादन से युद्ध का दृश्य सामने आता है। इसलिए इन दृश्यों को अधिक सजीव बनाने के लिए इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। तथापि शास्त्रीय संगीत में इन पर राग का ही रस प्रमुख रहे, यह प्रयास करना चाहिए।

संगीत में रस-परिपाक एक विवादास्पद विषय है। शास्त्रीय प्रमाण तथा नियम न होने के कारण किसी एक मत को मानना उचित नहीं है। अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि एक ही राग का, एक ही समय व स्थान पर, भिन्न प्रभाव हुआ है। किसी ने नींद का वातावरण महसूस किया तो किसी ने शोकाकुल स्त्री की कल्पना की, किसी को नाचने की इच्छा हुई इत्यादि। यदि श्रोता संगीत का जानकार नहीं है, राग की प्रकृति से अनभिज्ञ है तो भिन्न भाव की कल्पना उसे होती है। राग का भिन्न प्रभाव होने पर भी एक समानता सभी श्रोताओं में मिली कि वे सभी आनन्दित हुए। यह आनन्द कम-ज्यादा मात्रा में हो सकता है। अतः राग का रस वह आनंद ही है जिसका पान सबने किया।

रस की यह भिन्नता नाटक में भी होती है। सीता-हरण का दृश्य है, उस समय श्रोताओं में भिन्न भाव होते हैं, कुछ रावण के इस कार्य के प्रति घृणा करते हैं, कुछ क्रोधित होते हैं तो कुछ सीता के प्रति दया व करुणा का भाव रखते हैं। इसी प्रकार राग का प्रभाव भी भिन्न हो तो आश्चर्य की बात नहीं है। इन बातों से सिद्ध होता है कि संगीत अथवा राग का सम्बन्ध, रस की सीमा में न बांधकर उससे आगे की स्थिति, आनन्द से जोड़ना चाहिए। भिन्न राग के भिन्न रस व प्रकृति जानकारों के लिए है, अनजान लोग केवल आनन्दित होते हैं। राग तथा रस के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत निम्न हैं—

सुमति मुटाटकर ने कहा है कि राग विशेष से किसी निश्चित रस की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। जिस प्रकार काश्मीर का शालीमार बाग, समुद्र किनारे सूर्यास्त का दृश्य, कोयल की कुंजन, पुष्पों की सुगंध आदि से केवल

मन पुलकित होता है, कोई रस विशेष प्लावित नहीं होता, इसी प्रकार संगीत का आनन्द भी विशुद्ध आनन्द है।

कुछ शास्त्रज्ञों ने रागों के समय का सम्बन्ध रसों से जोड़ा है, परन्तु इसका भी कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। आधुनिक समय में रेडियो, टी.वी. तथा टेप रिकार्डर ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा असमय रागों को सुना जाता है व पूरा लुत्फ उठाते हैं। बहुत से लोग सोने से पूर्व शास्त्रीय संगीत की कैसेट लगाकर सुनते हैं और उस समय रात को भैरव से लेकर बिलावल, तोडी, सारंग कल्याण सभी राग सुनते हैं और उतने ही आनन्द का अनुभव करते हैं जितना कि राग के समय पर सुनने से होता है। यह आनन्द प्राप्ति ही राग या संगीत का रस है जो ब्रह्मानंद सहोदर कहलाता है। तथापि राग एक विशेष प्रकार का वातावरण बनाता है। मारवा, दरबारी, भैरव, मियाँ-मल्हार, पूरिया, जोगिया, तोडी आदि राग वातावरण को गम्भीर बनाते हैं तो दूसरी ओर काफी, खमाज, पीलू, बिन्द्राबनी, छायानट आदि के स्वर छिड़ते ही हलका-फुलका तथा चंचल वातावरण हो उठता है। प्रथम वर्ग के राग पुरुष कण्ठ अथवा मोटी आवाज के साज, जैसे—सारंगी, वीणा, गिटार पर और अधिक सजीवता प्राप्त करते हैं। गमक तथा मींड का प्रयोग उसके गाम्भीर्य को और उभारता है। इसी प्रकार दूसरे वर्ग के रागों में, चपल गति की रचनाएँ, पतली आवाजयुक्त वाद्य जैसे सितार, संतूर, छोटी बाँसुरी आदि और अधिक सजीवता पैदा करते हैं।

हम पहले इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि 'राग तथा रस' अथवा 'संगीत तथा रस' इस संबंध में रस विशेष की प्रमुखता न होकर केवल आनंद ही प्रमुख है। लक्ष्मीनारायण गर्ग ने रस तथा सौन्दर्य अथवा सौन्दर्यबोध को एक बताया है। उनके अनुसार संगीत रचना के उपकरणों में पद, छन्द, भाव, लय तथा ताल का महत्व है। इन रचनाओं के आलाप, तान, गमक, मींड, आन्दोलन, घसीट, कण आदि अलंकरणों द्वारा सजाया जाता है, फलस्वरूप वह रचना रक्तिदायक बनती है, यही संगीत का सौन्दर्य तत्व है। दूसरे शब्दों में यह सौन्दर्य-अनुभूति ही राग से उद्‌भूत रस है। यह सौन्दर्य-बोध वह स्थिति है जिसमें देशकाल, सम्बन्ध, स्थिति, इन सबको भूलकर हम कला की अनिर्वचनीय सत्ता में पहुँच जाते हैं। हमारे हृदय में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वही सौन्दर्यबोध अथवा रसानुभूति है। स्वर की दीर्घता, सुरीलेपन, वादी विवादी आदि की द्वन्द्वात्मक स्थिति एवं सम्बन्ध, मींड आदि के कारण नाद सौन्दर्य की चरमावस्था आती रहती है, जिसके कारण श्रोता बीच-बीच में अविस्मरणीय आनन्द की स्थिति में पहुंचते रहते

हैं। उस स्थिति में शब्द की सत्ता समाप्त हो जाती है, उससे उत्पन्न अर्थ पीछे छूट जाते हैं; कौनसे रस का राग है, कौनसे स्वर लगे, ये सभी बातें अर्थहीन हो जाती हैं, तब जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वही रसास्वादन है। सौन्दर्य के उन मार्मिक स्थलों में श्रोता डूब जाता है। यह आनन्दानुभूति ही रसानुभूति है।

श्री गर्ग का उपरोक्त कथन सत्य है कि आनन्दानुभूति में ही रसानुभूति है, तथापि संगीत श्रवण के समय यह महसूस किया जाता है कि गायन वादन के आरम्भ होते ही यह स्थिति नहीं आती है। यह क्रम इस प्रकार चलता है। आरम्भ होते ही रागसूचक स्वर लगने पर सर्वप्रथम राग के अनुकूल वातावरण बनता है। यदि दरबारी, तोडी या मारवा राग है तो एक अलग तरह का गंभीरता लिए वातावरण बनता है। जब आलाप आरम्भ किए जाते हैं, तब दरबारी के ग के आन्दोलन से, या ताड़ी के रे ग के कोमलत्व से तथा मारवा के कोमल रे से विशेष सनसनी-सी शरीर में आती है, यह महसूस करने की बात है। ज्यों-ज्यों राग की अवतारणा होती है, विभिन्न सौन्दर्य-स्थल आते हैं, तब कौनसी राग है, कौनसी बंदिश है, शब्द, तबले की ताल आदि से ध्यान हटकर केवल आनन्द की स्थिति आनी शुरू होती है। इसी प्रकार किसी सभा में आरम्भ ही भैरवी, कालिंगड़ा, सारंग, छायानट से करें तो इन रागों के स्वर छेड़ते ही जो वातावरण में चंचलता अथवा शृंगारिकता आती हैं, वह उस वातावरण से भिन्न होती है जो दरबारी या मारवा से पैदा होता है। इसे हम सुनकर महसूस कर सकते हैं। इन रागों की प्रस्तुति में ऐसा स्थान अथवा स्वर नहीं होता जिसके प्रस्तुति या घर्षण से दिल में सनसनी हो या एक हूक-सी उठे। इन रागों में भी विशुद्ध आनन्द की स्थिति कुछ समय बाद ही आती है।

सुमति मुटाटकर ने यद्यदि रस का सम्बन्ध आनन्द से माना तथा संगीत को रसों की सीमा में बांधने के मत का खण्डन किया तथापि राग के विशेष प्रभाव को स्वीकारा है। उन्होंने कहा है काफी, खमाज, बहार, जौनपुरी, जयजयवंती राग शृंगार या आमोद प्रमोद का वातावरण बनाते हैं, जिनका कॉमन फैक्टर 'कोमल नि' है। जिन रागों में पूर्णांतर अधिक है या स्वरों के बीच के फासले पूर्णांतर से भी अधिक हैं, वे वीररस प्रधान होते हैं। भैरवी एक ऐसा राग है जिसे विविध ढंगों से गाकर वीररस के अतिरिक्त सभी शृंगार, भक्ति, करुण आदि की अभिव्यक्ति की जा सकती है। कुछ रागों का स्वरूप ऐसा गूढ़ व गंभीर होता है कि उनसे किसी रस की अपेक्षा

संगीत के विशाल व उद्दाम स्वरूप का दर्शन होता है, जैसे दरबारी, भैरव, मियाँमल्हार आदि।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राग विशेष भाव व्यक्त करने तथा रस प्लावित करने में समर्थ है, यदि उसकी अवतारणा उसके भाव, रूप व प्रकृति के अनुरूप की जाय। संगीतकार अथवा कलाकार अपने कौशल से राग को वह स्वरूप व स्थिति प्रदान करता है, जहाँ वह (राग) रस तथा आनन्द देने में सक्षम होता है। अतः 'राग व रस' इस सम्बन्ध की सत्यता और इस सम्बन्ध को मूर्त रूप देने में कलाकार (गायक वादक) की दक्षता, संगीत साधना, स्वर साधना, सांगीतिक ज्ञान तथा कुशलता का बहुत महत्वपूर्ण योग व स्थान है। प्रत्येक राग का अपना एक प्रभाव विशेष होता है। यही उसका रस है। संगीत अथवा राग द्वारा प्राप्त विशुद्ध आनन्द ही रसानुभूति है।

अध्याय 10

संगीत एवं नायक-नायिका भेद

जब हम संगीत में रस चर्चा करते हैं तब आश्रय, आलम्बन, विभाव आदि की बात होती है। आश्रय तथा आलम्बन का सम्बन्ध नायक-नायिका से होता है तथा अनुभाव (शारीरिक विकार) भी उन्हीं में पैदा होते हैं। इस प्रकार नायक-नायिका चर्चा रस से जुड़ी है। शृंगार निरूपण (संयोग वियोग) में नायक-नायिका का विशेष महत्व रहता है। भरत के नाट्यशास्त्र में 22वें अध्याय में नायक-नायिका के भेदों, उपभेदों की विस्तृत विवेचना मिलती है। भरत के वर्गीकरण को ही आधार मानकर परवर्ती आचार्यों ने इनके भेदों तथा उपभेदों की कल्पना की है। नायक-नायिका भेदों का संगीत के क्षेत्र में क्या स्थान है, उनका संगीत से क्या सम्बन्ध है तथा किन-किन भेदों का वर्णन हमें संगीत में मिलता है, इन्हीं बातों पर इस अध्याय में चर्चा की जा रही है।

संगीत में उपलब्ध नायक-नायिका के वर्णन का उल्लेख करने से पूर्व नायक-नायिका के प्रमुख भेदों के नामों की जानकारी कर लेना जरूरी है।

नायकों के भेद

नायक के प्रमुख भेद निम्न हैं—

(1) **धीरोदात्त**—क्रोध, शोक, मानसिक विकारों से रहित तथा स्थिर-चित्त व अपने निश्चय पर अटल रहने वाला।

(2) **धीरोद्धत**—हर्ष व ईर्ष्या से भरा, माया व छल-कपट का आश्रय लेने वाला, अभिमानी चंचल तथा क्रोधी स्वभाव वाला।

(3) **धीरललित**—निश्चिन्त, सुखी, कोमल स्वभाव तथा कलाओं में आसक्त रहने वाला।

(4) **धीरशांत**—जिसमें नायक के सभी गुणों का सामान्य समावेश हो।

नायिका के भेद

नायिका के प्रमुख भेद विभिन्न शास्त्रज्ञों ने भिन्न बताए हैं, यहां कुछ प्रमुख नामों का उल्लेख किया जा रहा है—

(1) **स्वकीया**—लज्जाशील, सच्चरित्र व व्यवहार कुशल गुणों से युक्त इसके तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा।

(2) **परकीया**—अर्थात् अन्य स्त्री। यह भी अविवाहित कन्या अथवा किसी की परिणीता हो सकती है।

(3) **सामान्य अथवा साधारण**—अर्थात् गणिका। यह कलाओं में निपुण व धूर्तता से भरी होती है।

नायिका की अवस्थाओं के भेद के आधार पर भरत ने नायिका के 8 प्रकार बताए हैं—

(1) **स्वाधीनपतिका**—जिसका प्रिय उसके समीप हो, व अपने भाग्य पर प्रसन्न हो।

(2) **वासकसज्जा**—प्रिय के आगमन से हर्षित होकर अपने को सजाने वाली।

(3) **विरहोत्कण्ठिता**—प्रिय के अपराधी होने पर भी, उसके पास न आने पर, प्रतीक्षा करने वाली।

(4) **खण्डिता**—नायक के दूसरी स्त्री के साथ सम्बन्ध होने पर ईर्ष्या से कलुषित हो, उसे ताना दे, शिकायत करे।

(5) **कलहान्तरिता**—नायक के अपराध पर पहले क्रोधवश उसका तिरस्कार करे व बाद में पश्चात्ताप से पीड़ित हो।

(6) **प्रेषितप्रिया**—जिसका प्रिय दूर देश में वास करे तथा वह विरह-पीड़ित हो।

(7) **विप्रलब्धा**—नायक द्वारा इंगित स्थान पर न पहुँचने पर अपने को तिरस्कृत समझ कर दु:खी होने वाली।

(8) **अभिसारिका**—काम भावना से पीड़ित होकर नायक के पास अभिसार करने वाली नायिका।

यों नायक-नायिका का संबंध संगीत से नहीं है, क्योंकि संगीत का आधार व प्राण तो स्वर है, कोई पात्र अथवा अभिनयकर्ता अथवा दृश्य नहीं। तथापि संगीत की एक विधा कण्ठ संगीत है। यह सर्वविदित है कि कण्ठ संगीत में काव्य (शब्दों) का प्रयोग किया जाता है। अत: काव्य वर्णित शृंगार के विविध पहलू—संयोग, वियोग, रूठना, मनाना, शिकायत, मिलन की खुशी आदि का समावेश कण्ठ संगीत में मिलता है। संगीत में ख्याल तथा ध्रुवपद धमार प्रमुख प्रबन्ध है, इन प्रबन्धों में हमें किन-किन नायिका भेदों का वर्णन मिलता है, यह हम उदाहरण सहित बताएँगे। जैसा कि हमने पहले भी कहा कि संगीत में स्वरों का प्रामुख्य है, अत: सभी नायक-नायिका

भेद इसमें उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन जो भी ख्याल अथवा अन्य रचनाएँ हैं, वे जिन-जिन भेदों से युक्त हैं, उनका उल्लेख हम करेंगे।

ख्याल चूँकि प्रमुख रूप से श्रृंगार-रचना है, इसलिए हमें उसमें स्त्री-भावना (नायिका के विभिन्न भाव) की झलक मिलती है। ख्याल की उत्पत्ति किसने की, कब की, प्राचीन समय में यह किसी रूप में था या नहीं, इन बातों की चर्चा यहाँ करना मूल विषय से भटकना होगा। यह माना जाता है कि ख्याल गायन का प्रचार मध्यकाल की देन है। प्रारम्भ में ख्याल भी ध्रुवपद की भांति स्तुति, ईश्वर और भक्ति आदि विषयक रहे होंगे पर समय के साथ-साथ रीतिकाल का प्रभाव पड़ने से विषय लौकिक हो गये होंगे, ऐसी कल्पना की जा सकती है। ख्याल को, कोमल भावनाओं का दर्पण माना जाता है, अतः श्रृंगार के वह निकट है। इसीलिए मातखण्डे जी ने इसे श्रृंगारप्रधान गीत कहा है। मध्यकालीन संगीतज्ञों ने इसमें श्रृंगार की मधुर, ललित एवं कोमल भावनाओं को विकसित किया। आचार्य वृहस्पति के अनुसार—"भक्ति काल की समाप्ति के साथ ही साथ ध्रुवपद का स्वर्ण युग समाप्त होता है।" इससे ज्ञात होता है कि श्रृंगार काल से ख्याल गीतों का विकास हुआ, इसलिए ख्याल गीतों में नायक नायिका के संयोग-वियोग का चित्रण होना स्वाभाविक है। इतिहास से ज्ञात है कि सदारंग (ख्यालरचयिता) महाकवि देव के शिष्य थे, अतः सदारंग पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। संगीत के सुरों में श्रृंगारिक गीत का समन्वय कर उन्होंने प्रेमरस छलकाया। श्रृंगारिक भावनाओं का प्रभाव काव्य तथा संगीत दोनों पर पड़ा। गोपियों की विरह-व्यथा के उजागरकर्त्ता—सूर, मीरा, जायसी, का विरहोन्मुख प्रभाव भी संगीत पर था। उनके पदों की भावना 'घायल की गति घायल जाणे, और न जाणे कोय' को ख्याल गीत में उतारा गया—

राग सिंदूरा का ख्याल—

कौन हरे दुख मो मन को सखि,
चतुर पिया बिन तरसत जिया नित।
घायल की गत घायल जाने,
का से कहूँ सब या तन की गत॥

इसी प्रकार मीरा का एक अन्य पद शब्दों के थोड़े-से फेर-बदल के साथ ख्याल गीत है। मीरा का पद निम्न है—

बरसा री बदरिया सावन री,
सावन री मन भावन री।
सावन में उमग्यो म्हारो मणरो
भनक सुनी हरि आवन की॥

इस पर आधारित ख्याल निम्न है, जो कि गौडमल्हार का है—

झुक आई बदरिया सावन की,
सावन की मन भावन की ।
सावन में उमगे जोबनवा
छाड़ चले परदेस पियरवा,
सुध ना रही घर आवन की ।।

मीरा का अन्य पद है—

माई मेरे नैनन बान परी
जा दिन नैना श्याम न देखों
बिसरत नाही घरी ।। (राग पूर्वी)

इसी प्रकार अन्य कवियों का प्रभाव भी ख्याल गीतों में देखा जा सकता है। यह तथ्य निर्विवाद रूप से मान्य है कि कण्ठ संगीत में काव्य होता है, इसीलिए संगीत तथा काव्य का सम्बन्ध चिरकाल से चला आ रहा है। मध्यकाल में जब काव्य-क्षेत्र में कवि संयोग-वियोग भाव द्वारा उत्कृष्ट काव्य रचनाएँ कर रहे थे, तब संगीतज्ञ भी उन्हीं भावों पर आधारित लयबद्ध गीत ख्याल रूप में गा रहे थे। नारीपरक विरहानुभूति जनक गीतों की संगीत में बहुतायत है और उनमें विरहिणी नायिका के अनेक रूप मिलते हैं।

यहाँ हम, नायिका के जो भेद संगीत में उपलब्ध हैं, उनका सोदाहरण उल्लेख करेंगे।

स्वकीया नायिका

नायिका के प्रमुख भेदों में एक है, स्वकीया नायिका। शील, लज्जा, सच्चरित्रता के गुणों के अतिरिक्त स्वकीया की पहचान है कि उसकी लावण्य, शृंगार चेष्टाएँ, हँसी आदि प्रिय के प्रवास में चले जाने पर समाप्त हो जाती है और उसके लौट आने पर लौट आती है। प्रिय के बिना कोई ऋतु, समय अच्छा नहीं लगता। इसके कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(1) बहार का ख्याल—

कैसी निकसी चाँदनी,
शरद रात मदमात विकल भई,
पियु पियु टेरत भामिनी ।
छिन आँगन छिन जात भवन में
छिन बैठत छिन बाहरी दौरत

कल न परत तरफत बिरहाकुल
चमकत जो दुख भामिनी ॥

(2) राग कामोद का ख्याल—

हूँ तो जनम न छाँडी हूँ
निस दिन प्रेम पिया के संग
विधना तो पे यही माँगू
मोरे पिया को कीजे एक रंग ॥

(3) राग श्री का ख्याल—

एरी हूं तो आसन गैली पासन
गैली लुगवा धरे मैका नाम।
जब तें पी परदेस गवन कीनो
तबसे देहरी न दीनो पांव ॥

(4) मालकौंस के ख्याल में पिया के आने की खबर सुनते ही नायिका की खुशी का वर्णन—

ए सुनत ही भनक पिया के अवन का
ई दुख पात सब झर गये मो तन के।
फूली न समात आई बसंत रुत
सदा रंगीले भये काज सब मन के ॥

(5) खमाज के धमार में स्वकीया नायिका के विरह का मार्मिक चित्रण देखिये, उसे त्यौहार भी अच्छा नहीं लग रहा—

होरी आज जरे चाहे काल जरे
मेरो मन मोहन मोसे न मिले
बिना पिया कैसे फाग हमारो
अबीर गुलाल पे आग लगे।

स्वकीया नायिका के अतिरिक्त नायिका के अवस्था भेद से वर्णित 8 भेदों में से किन-किन नायिका के भेदों का वर्णन संगीत में उपलब्ध है, उनके उदाहरण निम्न हैं—

(1) **स्वाधीनपतिका नायिका**—इसका प्रिय उसके समीप रहता है तथा उसके प्रेम के अधीन रहता है। यह उसके सौभाग्य की बात है। स्वाधीन-पतिका से सम्बन्धित अनेक ख्याल संगीत में हैं। कुछ उदाहरण—

(1) राग पीलू का छोटा ख्याल—

प्यारी लाल तोरे री अधीन

सुन सजनी हम सांचि बखाने
तुम जल हो वह मीन

(2) राग बिहाग के ख्याल की पंक्तियाँ—

तेरे सिर कुसुम बिथुर रह्यो भामिनी
सोभा देत मानो नभ निस तारे
श्याम अलक छुटि रहिरि बदन पर
चाँद छिप्यो मानो बादर कारे ॥

मुक्त भाल मानो मान सरोवर
कुच चकवा चकवी दोऊ न्यारे
कुम्भनदास गोवरधनधारी
बस कीने नंद लाल पियारे ॥

(3) कालिंगड़ा का ख्याल—

धन धन सखि सफल जनम
जाके अनुकूल सजन

(2) **वासकसज्जा**—प्रिय के आगमन पर अपने को सजाने वाली नायिका। वासक सज्जा के कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(1) राग बिहाग का ध्रुवपद—

आत होंगे आली प्यारी
भूषन ला रतनारे
वेग उठ धावो प्यारी
हियरा हुलसात है।

सगरे सिंगार करो
अंजन हूँ नैन धरो
मुख में तमोल फीको
मद हूँ सरसात है।

(2) राग जोग का छोटा ख्याल—

साजन मोरे घर आए
अति मन सुख पाए
मंगल गावो चौक पुराओ
प्रेम पिया हम पाए

(3) राग जौनपुरी का ख्याल—

मैं हूंतो जै हों किस कदर से सोला सिंगरवा

बहुत दिन पाछे तें मिलन भई,

वाहू तो तुम पर वारी ।

(3) **विरहोत्कण्ठता**—प्रिय के अपराधी होने पर भी उसकी प्रतीक्षा में रत रहती है। इस नायिका से सम्बन्धित कुछ रचनाएँ निम्न हैं—

(1) राग छायानट का ख्याल—

पल पल सोच विचार करूँ मैं

काहे पीतम अजहूँ न आए

(2) गौडमल्हार की एक बंदिश—

पियरवा अजहुं न आए

एरी माई अब कहूँ कौन से

तरसत जियरा

(3) राग केदार का ख्याल—

आज मोरी अंखिया पल न लागी

पिया प्यारे की आस

दास कर सिंगार बैठी हूँ

सगरी रैन की जागी ।

(4) **खण्डिता**—नायक के परस्त्री प्रेम के कारण उससे रूठना, ताना देना आदि क्रियाएँ करती है। संगीत में खण्डिता से सम्बन्धित अनेक रचनाएँ हैं।

(1) बिंद्राबनी सारंग का ख्याल—

ना बोलो श्याम हमीं सन

जान गयी तुमरो ढंग

कुबजा नारी अति मन भाई

अब कैसो हमरो संग ।

(2) राग पूर्वी की रचना—

वहीं क्यों न जाओ कृष्ण कन्हाई

जाय रहो मोसे करके ढिटाई

सगरी रतियाँ जिन घर बीतीं

कहो नाथ अब कौन ये रीति

ग्वाल सूत तोहे शरम न आई ।।

(3) आसावरी के ध्रुवपद में पिया की आंखें रात की जागी हैं, वस्त्र मलिन हैं, इसका ताना देती हुई खण्डिता का चित्रण है। रचना के अन्त में (आभोग में) खण्डिता शब्द का भी प्रयोग है—

सगरी निमट गई, जावो ये सिमट गई
कहे हरि वल्लभ भये, खण्डिता कहलात है।

(4) राग काफी का ख्याल—

पिया झूम झूम मोहे निंदिया आई रे
लो भोर भये आए जाओ जहाँ रैन गँवाई रे।

खण्डिता नायिका से सम्बन्धित अनेकों रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिसमें कहीं ताना है, कहीं सखि से पिया की करनी की शिकायत है।

(5) **कलहान्तरिता**—नायक के अपराध करने पर पहले तो क्रोधवश अपशब्द कहती है, तिरस्कार करती है, बाद में उसके रूठने पर अपने व्यवहार से दुखी हो पश्चात्ताप करती है। इस प्रकार के वर्णन के कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(1) मालकौंस का ख्याल—

मैं पिया संग लर पछतानी
देखो ऐसी मद किए नी
उन बिन मैका कल न परत है
यूँ ही रैन बहानी
तरफ तरफ मैं रही सेज पर
जैसे मीन बिन पानी।

(2) भैरवी के इस ख्याल में दो अन्तरे हैं। पूरे ख्याल में कलहान्तरिता के पश्चात्ताप का वर्णन है। कुछ पंक्तियां निम्न हैं—

सखि आज प्रमाद भइला,
साजन आप तजीला
चाटु वचन कछु श्रवन न कीन्हें
अर्पित हार तजीला।
बोध सखि जन के अवमाने
पछात्ताप भईला
चरणनते गिर परचो चतुरसखि
तबहुन हाथ गईला
कलहान्तरिता कहत नायिका
जिया में दाग रहीला॥

(6) **प्रोषितप्रिया**—इस नायिका का प्रिय उसके पास न होकर दूर देश में वास करता है। इसमें विरह प्रमुख होता है। इसके कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(1) यमन की प्रसिद्ध रचना—

अरी एरी आली पिया बिन
सखि कल ना परत मोहे
घरि पल छिन दिन।
जब से पिया परदेस गवन कीनो
रतियां कटत मोहे तारे गिन गिन ॥

(2) गौड़मल्हार—

मिगवा झर झर लागे बरसन
जाय कहो कोऊ रघुवर सन।
तुम तो रहे परदेसन परसन
हम मर-मर दरसन के तरसन ॥

(3) राग तोड़ी का ख्याल—

बेग लिया पतिया पथिकवा
मोरे पिया सन मोरा संदेसवा
घरिघरि पलपल छिनछिन मैका
जुगसिबितत है बेग लिया
सियरी हो छतिया ॥

(7) **अभिसारिका**—नायक के पास जाने की इच्छा रखने तथा पास जाने का प्रयास करने वाली नायिका। इस इच्छा में बाधक कोई भी वस्तु उसे अच्छी नहीं लगती। सास, ननद, पायल का बजना आदि। संगीत में इससे सम्बन्धित अनेकों रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ निम्न हैं—

(1) राग नंद की रचना—

पायल मोरी बाजे झनन झनन
अति डर पावे जिया
कैसे कर आऊँ बालमवा, पास में तिहारे
घर की लुगाइयाँ जाग रही

(2) राग छायानट—

नेवर की झनकार सुनत ही
सब लोग जाग परे
कौन बहाने जाऊँ मैं वीर

(3) राग ललित का ख्याल—

म्हारे घुंघरवा के रुणवा काट देरे सुनरवा

हूं जो गई हों पिया के मिलन को
तब ही बाजे ।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संगीत में नायिका की अनेक अवस्था भेदों का चित्रण उपलब्ध है । इनमें मुख्यता विरह की भावना की रहती है । हिन्दी काव्य में विरह वर्णन चार रूपों में मिलता है—(1) पूर्वानुराग (2) मान (3) प्रवास तथा (4) करुण । इनमें से प्रवास तथा करुण में सम्बन्धित उदाहरण ऊपर दिये गये नायिका के अवस्था भेदों के उदाहरणों से दिये जा चुके हैं । पूर्वानुराग तथा मान (रूठना) से जो विछोह होता है, उससे सम्बन्धित कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

मान

जब नायक विलम्ब से आए, तब नायिका रूठ जाती है तथा नायक के मनाने पर नहीं बोलती है । यही स्थिति विपरीत भी है, कभी नायक रूठ जाए तब नायिका उसके मान के कारण (न बोलने से) दुखी है । दोनों प्रकार की स्थिति-वर्णन के उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं—

(1) खमाज का ख्याल—

न मानूँगी मैं तो उन्हीं के मनाये बिना
जाओ जी सखि वे तो अपने रस के रसिया
न जाऊँगी मैं तो उन्हीं के मनाए बिना

(2) पूरियाधनाश्री—

अब तो रुत मान आए
ना बोलूँगी मैं प्यारे तुमसे

(3) राग हिण्डोल का ध्रुवपद—

एरी मान तू काहे मान करे चंद्रमुखी
जो तन मन भाए लाए
जिया तरसत है वो करे
बिरहा से उमग उमग भयो
सगरो तू छाँड दे गुमान ।

(5) नायक के रूठने से नायिका विरह-पीड़ित हो नायक को मनाती है । राग केदार का ख्याल—

काहे सुन्दरवा बोलो नाही
अब मौन भयो तुम मान मान
का मोसे चूक परी रे पियरवा

मानत ना अब देर मनाऊँ
मना मना कर हारी हारी

(5) राग पूर्वी—

बनत बनाऊँ बन नहीं आवे
हरि के बिना हे आली
कारि करूँ अब कैसे समझाऊँ
समझत नाहिन हे आली

पूर्वानुराग

नायक की एक झलक देखकर अथवा उसके रूप-गुण की चर्चा सुन उससे प्रेम करना तथा पास न होने पर उससे मिलने या उसे देखने को तड़पना पूर्वानुराग है। पूर्वानुराग से सम्बन्धित उदाहरण निम्न हैं—

(1) पूरिया की रचना—

उन बिन कल न परत मोहे आली
जब देखों मोरे मन है सुरतिया
घड़ी घड़ी पल मोहे कछु न सुहावे
तरफत बीतत हमरी रतियाँ।

(2) बिहाग का ख्याल—

कैसे सुख सोहे नींदरिया,
श्याम मूरत चित चढ़ी
सोचे सोचे सदारंग अकुलावे
या विध गाँठ परी।

(3) छायानट—

माधुरी मूरत तुम्हरी, सुधहि हमरी गुमावत
निंदिया न आवे

(4) काफी की एक रचना—

आज मन बस गई साँवरे की सुरतिया
प्यारी प्यारी सखि कहा कहूँ तोसे
अपने जिया की बीती आली री
वाहु के बिन देखे कल न परत मोको

इसके अतिरिक्त नायिका का एक अन्य भाव, कि वह प्रिय के संयोग का सुख त्यागना नहीं चाहती, उसके समीप रहना चाहती है, का चित्रण भी संगीत में मिलता है—

(1) राग जोगिया—

हूँ तो थाने जावन नहीं देशां, ओ म्हारा राज
हूँ तो थांरी दासी, जनम जनम री तूं तो म्हारा राज

(2) राग कामोद—

कारे जाने न दूँगी एरी माई
अपने बालम को नैनन में
कर राखी पलकन मूंद मूंद

नायिका का एक अन्य उपभेद है 'अष्ठांगवती' नायिका। यह रूप, गुण शील, भूषण से सज्जित होती है। इस प्रकार की नायिका के रूप सौन्दर्य का वर्णन भी हमें संगीत की कुछ रचनाओं में मिलता है, जैसे—

(1) गौडसारंग का ख्याल—

कजरारे प्यारी तेरे नैन सलोने
मद भरे पिया के प्यारे
एरी अंजन बिन
चंचल चपल चात्रक जो चमकत
खंज मीन मृग वारे
कर डारे एरी अंजन बिन

(2) केदार के ध्रुवपद की कुछ पंक्तियां—

नेत्र कल खंजन मोन,
मृग हूँ की छब लीनी
अमृत वचन सुन पिय जिय
हिय सुहात तेरोरी।

उपरोक्त समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि नायिका अथवा नायक से संगीत का सीधा सम्बन्ध न होने पर भो, काव्य के साथ नायिका का सम्बन्ध होने के कारण, संगीत की रचनाओं में नायिकाओं का वर्णन हमें मिलता है। नायिका भेदों में मूल रूप से विरह का भाव ही वर्णित है। प्रिय के पास न होने पर तड़पना, उसके देर से आने पर चिन्ता करना, परदेश होने पर विरह पीड़ित होना, उसे सन्देश भेजना, उसके आने की खबर से प्रसन्न होना, सजना-संवरना, कभी उससे रूठना, कभी स्वयं उसके रूठने पर उसे मनाना आदि सभी दशाओं से सम्बन्धित गीत, रचनाएँ, संगीत में उपलब्ध हैं। नायिका की अभिलाषा, चिंता, प्रलाप, व्याधि, स्मृति, उद्वेग, स्वप्न-संयोग आदि से सम्बन्धित गीतरचनाएँ संगीत में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

अध्याय 11

संगीत एवं कण्ठ-संवर्द्धन

संगीत की एक विधा, गायन का सम्बन्ध कण्ठ से है, अतः संगीत में कण्ठ को साधना, ठीक आवाज निकालना, आवाज में कोई दोष न आने देना आदि बातों का बहुत महत्व है। प्राचीन समय में तो गायन (कण्ठ संगीत) का और अधिक महत्व था। वीणा, वंशी आदि वाद्य केवल स्वर देने तथा गायक के सहायक के रूप में प्रस्थापित थे। शीर्ष स्थान गायन को ही प्राप्त था। संगीत में गायन का जो भी रूप हो, जातिगायन हो अथवा मूर्च्छना राग पद्धति, रागरागिनी पद्धति हो अथवा थाट राग पद्धति, कण्ठ से उत्पन्न आवाज के प्रति सावधानियाँ, आवाज साधना आदि का हमेशा ध्यान रखा जाता रहा है। कण्ठ संगीत में अभ्यास का भी विशेष महत्व रहा है और अभ्यास द्वारा आवाज को दोषमुक्त, विभिन्न प्रकार की तानें लेना, स्वर ठहराव, लम्बी श्वास, गमक, मींड आदि के योग्य बनाया जाता था। जब हम सप्तक की बात (मंद्र, मध्य तथा तार) करते हैं, तो आवाज की तैयारी ऐसी होनी चाहिए जिससे वह तीनों सप्तकों में भली प्रकार लग सके। आवाज चूँकि गायन का प्रमुख आधार है, अतः जरूरी है कि वह मधुर, स्निग्ध व गूँजयुक्त हो। आवाज फेंककर निकालना, नाक से निकालना, शब्दों का अस्पष्ट उच्चारण, मुखाकृति बिगाड़ना आदि दोषों से मुक्त होनी चाहिए। कण्ठ संगीत में सौन्दर्य वृद्धि में आवाज (साधना) भी एक महत्वपूर्ण तत्व है।

प्रत्येक कला के लिए यह आवश्यक है कि उसमें चतुराई व कुशलता हो। यह कुशलता अभ्यासजन्य होती है, अतः संगीत में भी अभ्यास आवश्यक है। यह अभ्यास गले के द्वारा ही किया जाता है अतः प्राचीन संगीताचार्य आवाज साधना, आवाज दोषमुक्त करना, को मानते थे। आज के युग में जिसे हम 'आवाज शास्त्र' अथवा कण्ठ संवर्द्धन कहते हैं, उसमें मान्य बातें प्राचीन आचार्यों द्वारा भी मान्य थीं। ये बातें प्राचीन भारत में जहां दार्शनिक व धार्मिकता से जुड़ी थीं वहीं आधुनिक समय में विज्ञान से जुड़ी हैं। अन्य शारीरिक क्रियाओं की तरह आवाज निर्मिति भी पूर्ण रूप से शारीरिक

क्रिया है। शरीर के कौनसे अंग आवाज निर्मिति में सहायक हैं, आवाज में गूँज कैसे पैदा होती है, आवाज निकालते समय सम्बन्धित अंगों की स्थिति कैसी हो जिससे कि आवाज में दोष न आए, आए हुए दोषों को किस प्रकार दूर किया जाय, इन सभी बातों पर विचार चिकित्सा शास्त्र अथवा शरीर विज्ञान के आधार पर किया गया है। भारत तथा पाश्चात्य देशों में आवाज-शास्त्र का समान महत्व है, बल्कि भारत में गायन प्रधान होने के कारण प्राचीन समय से ही इससे सम्बन्धित बातों का वर्णन उपलब्ध है। अन्तर केवल यह है कि इन बातों को आवाजशास्त्र अथवा कण्ठसंस्कार के नाम से अभिहित कर, कोई अलग शास्त्र अथवा विषय के रूप में नहीं माना जाता था। यहाँ हम यह देखेंगे कि भारत में मान्य आवाज सम्बन्धी धारणाओं में कौन-कौन-सी बातें आज भी कण्ठ संस्कार में मान्य हैं। तथा आवाजशास्त्र सम्बन्धी किन बातों का ज्ञान हमारे प्राचीन संगीताचार्यों को था, तथा उनका नाम व स्वरूप क्या था ?

भारत में कण्ठ संस्कार का रूप

आवाजशास्त्र के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह पाश्चात्य की देन है, परन्तु भारतीय संगीत के इतिहास तथा प्राचीन संगीताचार्यों के विचारों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वे भी आवाजशास्त्र अथवा कण्ठ-संवर्द्धन के प्रति जागरूक थे, तभी उन्होंने आवाज-साधना सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। यह सही है कि कण्ठ-संवर्द्धन का जिस प्रकार का क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक रूप व इतिहास हमें पाश्चात्य देशों में मिलता है, वैसा भारत में नहीं है, तथापि बहुत से ऐसे तथ्य, जो आज आवाजशास्त्र में मान्य हैं, उन्हें भारत में भी महत्व दिया जाता रहा है।

प्राचीन समय में संगीत वेद-ऋचाओं तथा देव-मन्दिरों से जुडा होने के कारण एक पवित्र रूप लिए, मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में था। अत: ऐसे संगीत की जानकारी तथा ज्ञान पाना एक साधना मानी जाती थी। इसी साधना में (नाद साधना, आवाज साधना) आवाज का विशेष स्थान था। प्राणायाम की भांति श्वास नियंत्रण व श्वास की दीर्घता के लिए नाद साधना की जाती थी। आवाज को हर प्रकार के दोषों से मुक्त किया जाता था। उस समय की आवाज साधना के सम्बन्ध में विभिन्न तथ्य उपलब्ध हैं।

नारदीय शिक्षा में स्वरोच्चारण के तीन स्थान बताए हैं—हृदय, कण्ठ तथा शिर। इन स्थानों से निकलने के कारण भिन्न स्वरों की साधना भिन्न समय पर मान्य थी। ये साधना स्तवन के नाम से जानी जाती थी। हृदय, कण्ठ तथा शिर स्थानों के आधार पर तीन स्तवन मान्य थे—

(1) **प्रात: स्तवन**—हृदय स्थान के स्वर अर्थात् मंद्र स्वरों का उच्चारण अथवा अभ्यास प्रात:काल में किया जाना चाहिये।

(2) **मध्यान्हकालीन स्तवन**—कण्ठ स्वर अर्थात् मध्य स्वरों का अभ्यास मध्यान्ह (दोपहर) काल में किया जाना चाहिये।

(3) **तृतीय स्तवन**—शिरस्थानीय स्वर अर्थात् तार स्वरों का उच्चारण, जिससे कि कनपटी पर जोर पड़ता है, संध्याकाल और उसके बाद करना चाहिये।

इस प्रकार भारत में वैदिक काल से किसी-न-किसी रूप में आवाज सम्बन्धी नियम व सतर्कता के उदाहरण उपलब्ध हैं। उस काल से लेकर आज तक भारत के अनेक संगीत शास्त्रियों ने आवाज के सम्बन्ध में अपने मत दिये हैं। उनका ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में यहां अध्ययन करेंगे। साथ-साथ उन संगीताचार्यों के मतों को आज हम आवाजशास्त्र में किस रूप व नाम से पाते हैं, इसका तुलनात्मक विश्लेषण भी करेंगे।

नाभि का श्वास

वैदिक काल में वेद का पाठ करने वाले ब्राह्मण जो कि 'सामग' कहलाते थे, वे संगीत में भी निपुण हों, ऐसा माना जाता था। गायक के लिए 'नाभिका श्वास' तथा 'खरज साधना' दोनों ही जरूरी मानी जाती थीं। आज आधुनिक आवाजशास्त्र में हमें इससे मिलता हुआ मत दिखाई देता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका महत्व है।

आवाजशास्त्र की वैज्ञानिक तकनीक में उत्तम श्वसन को आवाज निर्मिति में बहुत आवश्यक व सहायक माना है। पाश्चात्यमतानुसार श्वसन की भिन्न विधियां निम्न हैं—

(1) Upper chest breathing

(2) Middle chest breathing

(3) Diaphragmic breathing

इन तीनों में अन्तिम श्वसन को श्रेष्ठ माना जाता है। यही श्वसन प्रकार भारत में 'नाभिश्वास' के नाम से प्रचलित रहा।

इसी नाभिश्वास का समर्थन शार्ङ्गदेव ने किया। उन्होंने शरीर को एक वीणा के रूप में मानकर 'गात्रवीणा' के नाम से अभिहित किया। जिस प्रकार काष्टवीणा में ध्वनि आघातजन्य वस्तु के संयोग से पैदा होती है, उसी प्रकार गात्रवीणा में हृदय प्रदेश में वायु का आघात ही ध्वनि का कारण है। प्राणायाम के समान संगीत साधना का अर्थ भी वायु को नियंत्रित करना है।

वायु नियंत्रण के कारण ही स्वर अपनी श्रुतियों पर स्थिर रह पाते हैं। मंद्र साधना में वायु-अवरोध की आवश्यकता का आभास स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। मंद्र साधना के लिए वायु को नाभि के नीचे उतारना आवश्यक होता है। नाभिश्वास अथवा गहरा सांस लेकर गाने के अनेक लाभ होते हैं—यह श्वास गायन में ईंधन का काम करता है, साथ ही आवाज को दोष-रहित व सधी हुई बनाता है। इससे श्वसन सम्बन्धी अनेक दोष भी दूर हो जाते हैं। जिस प्रकार प्राणायाम रीढ़खम्भ को सीधा रखकर, गर्दन भी सीधी रखकर किया जाता है, उसी प्रकार स्वर साधना भी तनकर (गर्दन व मेरु-दण्ड सीधा रखना) बैठकर करने का सुझाव दिया गया है।

आवाजशास्त्र के अनुसार झुककर बैठने से पेट में स्थित 'Rectus abdominous' नामक ग्रन्थि सिकुड़ जाती है तथा फैफड़ों को भी फैलने का पूरा स्थान नहीं मिलता। बैठने का यह दोष नाभिश्वास में समाप्त हो जाता है क्योंकि तब साधक तन कर बैठता है। उस समय मेरुदण्ड (रीढ़-खम्भ) सीधा रखना योग की पहली शर्त थी और यह आसन थकान नहीं आने देने वाला था। कौनसी मांस पेशी सिकुड़ती है तथा फैफड़ों को पूरा स्थान नहीं मिलता, इस बात का वैज्ञानिक ज्ञान न होने पर भी सीधा बैठना ही मान्य था, जो आज आवाजशास्त्र में भी मान्य है। इस तथ्य का भारत में प्राचीन समय में पाया जाना हमारे लिए गर्व की बात है।

नाभिश्वास तथा खरज साधना के अतिरिक्त हमारे संगीताचार्यों ने गायकों के कुछ गुण तथा दोष बताए। ये गुण तथा दोष अच्छी आवाज निर्मिति में सहयोगी थे। इन गुण तथा दोषों में भी अनेक बिन्दु हैं जो आज आवाजशास्त्र में मान्य हैं। यहाँ हम उन बिन्दुओं का उल्लेख करेंगे। शार्ङ्ग-देव द्वारा प्रतिपादित, गायक के जो गुण व दोष हैं वे निम्न रूपों में आवाज-शास्त्र में उपलब्ध हैं—

गायक के गुण

(1) **हृद्यशब्द**—जिसका शब्द अर्थात् आवाज मधुर हो। शार्ङ्गदेव ने गायक की आवाज की मधुरता को विशेष महत्व दिया है। आवाजशास्त्र में इसी का समर्थन है तथा आवाज में मधुरता कैसे आए, यह भी बताया है। इसके अनुसार कण्ठस्थान की अच्छी स्थिति, तथा सहज रीति से आवाज की निकासी, तथा आवाज को अपनी कुदरती दशा में बाहर आने देना ही आवाज की मधुरता है।

(2) जो सब स्थानों की गमक सहज में ही ले सकता हो, तीनों स्थानों

(मन्द्र, मध्य व तार) में गमक प्रयोग गले की तैयारी का संकेत है। आवाज-शास्त्र के अन्तर्गत दोनों 'रजिस्टरों' का सही प्रयोग मान्य है जिससे गला सभी सप्तकों में सहजता में घूम सके।

(3) **आयत्तकण्ठ**—जिसके गले से खुली आवाज निकले। आवाजशास्त्र में यही बात इस प्रकार कही गयी है कि गला, जीभ, होंठ की स्थिति सही रखने तथा मुँह सही नाप में खुला रखने से आवाज खुले रूप में बाहर आती है।

(4) **जितश्रम**—जिसे गाते समय 'श्रम करना पड़ रहा है' ऐसा महसूस न हो। अर्थात् आवाज स्निग्धता व बिना किसी श्रम के, कष्टरहित तरीके से निकले। शास्त्र ने इस विषय में कहा है कि यदि आवश्यक अंगों को अनुचित तनाव दिया जाय तब गायक को श्रम अथवा जोर पड़ता है। इसी से उसे थकावट आती है। अतः शुरु से ही केवल गले की ही मदद से आवाज निकाली जाय तो किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता। इसके लिए गला तथा गर्दन की मांसपेशियाँ पूर्णतया शिथिल होनी चाहिये।

(5) जो गाते समय मेघगर्जना के समान गम्भीर आवाज निकालने वाला हो। अर्थात् जिसकी आवाज गाम्भीर्य व गूँजयुक्त हो। आवाजशास्त्र के अनुसार नाक तथा खोपड़ी में स्थित खोखले भाग गूँज पैदा करने में सहायक होते हैं। गूँज लाने के लिए तालू को नीचे नहीं धकेलना चाहिये। मन्द्र स्वर-अभ्यास तथा मुंह लगभग एक इंच खुला रखकर गाने से यथोचित गूँज पैदा हो सकती है।

गायक के दोष

(1) **कंपित**—जिसकी आवाज काँपती हो, अथवा आवाज का कंपकंपाहट-युक्त निकलना। शास्त्र में इसे Tremelo कहा गया है। वायब्रेटो का बिगड़ा हुआ रूप आवाज की कंपकंपी को जन्म देता है।

(2) **काकी**—जो कौए के समान कर्कश आवाज निकाले। शास्त्र में इसे Mixed register, Throaty voice कहा गया है। अधिक मुंह खोल कर गाने से इस प्रकार का दोष पैदा होता है।

(3) **करभ-झौंबक**—जो मुण्डी ऊँची करके गाये और जो गले व मुंह की नसें फुलाकर गाये। शास्त्र के अनुसार आवाज को सहज रूप में न निकाल कर जोर लगाने से तथा सस्वर-शब्दोच्चार के समय मुंह को गलत आकार (आकृति) देने से, होंठ व गर्दन के स्नायु आकुंचित होते हैं, जिससे गर्दन फैल अथवा फूल जाती है।

(4) **वक्री**—मुँह बनाकर (बिगाड़कर) गाने वाला। गायन के समय मुँह की आकृति में कोई विकार नहीं आना चाहिये। शास्त्र में मुखाकृति बिगड़ने के कुछ कारण इस प्रकार बताये हैं। आवाज निकालने में जब सीने पर जोर पड़ता है तब जबड़ा, गर्दन तथा छाती के स्नायु खिंच जाते हैं। इस खिंचाव के कारण कण्ठ के स्नायु स्वरोत्पादन क्रिया के लिए निकट नहीं आ पाते हैं व आवाज निर्मिति में असमर्थ होते हैं, तब गायक कण्ठ को दबाकर स्वर निकालने की चेष्टा करता है, जिससे जबड़े के स्नायु खिंच जाते हैं। परिणामस्वरूप गले के स्नायुओं पर तनाव पड़ता है और मुखाकृति विकृत हो जाती है। जीभ के कारण भी मुद्रादोष आता है। उच्चारण के समय जब जीभ को ढीला छोड़ देते हैं तब वह पिछले हिस्से से, कण्ठ की ओर झुकी रहती है और बन्दप्राय: गले से स्वर नहीं निकलता, अत: जोर लगाकर मुँह विकृत कर आवाज पैदा की जाती है।

(5) **सानुनासिक**—जो गाते समय नाक से आवाज निकालता हो। आवाजशास्त्र में नक्की आवाज पैदा होने का कारण भी बताया गया है। जब गायक गूँज पैदा करने के लिए अथवा अनजाने ही तालू को नीचे की ओर धकेलता है तब आवाज नाक में आती है।

(6) **अव्यक्त**—गाते समय जिसका शब्दोच्चारण अस्पष्ट हो। आवाजशास्त्र के अनुसार जीभ के पिछले हिस्से के कारण कण्ठ के संकोचस्नायुओं पर दबाव पड़ता है और गला रुँध जाता है। यह जीभ को ढीली छोड़ने के कारण होता है। इस, लगभग बन्द हुए गले से ही उच्चारण दूषित होता है। इसी से आवाज भी रंभाने जैसी निकलती है।

आवाजशास्त्र के अनुसार स्वराभ्यास द्वारा उक्त दोषों को दूर किया जा सकता है। उपरोक्त गुणदोषों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि जो बातें सैकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व संगीताचार्यों ने मानी तथा बतायीं, वे ही वैज्ञानिक तरीके से, कारण सहित, सुसम्बद्ध शास्त्र के रूप में हमें पाश्चात्यदेय आवाजशास्त्र में प्राप्त हैं।

शार्ङ्गदेव के बाद मध्यकाल में अनेक देशी विदेशी प्रभाव के परिणामस्वरूप अनेक परिवर्तन हुए। ध्रुवपद के लिये विभिन्न वाणियां थीं—गोबरहार, खण्डहार, डागुर तथा नौहारवाणी। चारों वाणियों की अपनी अपनी विशेषताएँ थीं। कोई सरल शुद्ध तो कोई लालित्यपूर्ण, तो कोई गाम्भीर्ययुक्त। ये विशेषताएँ आवाजसाधना द्वारा ही प्राप्त की जाती थीं। इन वाणियों को आवाज की उत्तमता के कारण क्रम दिया गया था। गोबरहार—राजा, डागुर—मंत्री, खण्डहार—सेनापति तथा नौहार को सेवक का स्थान

दिया था। ध्रुवपद व धमार गायकी में आवाज को तैयार करने पर विशेष महत्व दिया जाता था। 'नारायण हरि ओम' अथवा 'तू ही अनंत हरि' इस प्रकार के शब्दों के साथ आलापचारी की जाती थी। इन शब्दों के माध्यम से आकार, इकार, ओकार आदि उच्चारणों द्वारा आवाज के भिन्न-भिन्न उत्पत्ति स्थानों को व्यायाम मिलता था। कालान्तर में ये ही शब्द नोम तोम में परिवर्तित हो गये।

लगभग 200 वर्ष पूर्व घरानों व सम्प्रदायों की परम्परा चली, जिसमें संगीत की, रियाज की परम्परा कायम की गई। आवाज लगाने का ढंग, स्वर प्रयोग के तरीके, आलाप प्रधान अथवा तान प्रधान गायकी, स्वरों का ठहराव, कण्ठ के गुण-धर्म के अनुसार गायकी के प्रयोग तथा संगीत सिद्धि के लिए अनवरत अभ्यास को महत्व दिया गया। जैसे ग्वालियर घराना जोरदार खुली आवाज तथा गमक प्रयोग को महत्व देता था तो जयपुर घराना आवाज बनाने की स्वतंत्र शैली व खुली आवाज में वक्र तानों का प्रयोग करता है। घराना कोई भी रहा हो, आवाज साधना, स्वर व खरज साधना पर पूर्ण महत्व दिया जाता था।

आधुनिक समय में वैज्ञानिक, भौतिक तथा आर्थिक रूप से काफी प्रगति हुई है। हमारे सामने प्राचीन संगीताचार्यों के महत्वपूर्ण सुझाव तथा आवाज-शास्त्र दोनों के सुझाव हैं तथापि संगीत की तथा आवाज की गुणवत्ता में कमी आई है। प्रमुख कारण है अभ्यास की कमी, स्कूल तथा कॉलेजी शिक्षा। इस शिक्षा का परिणाम है, भिन्न गायकों से सीखना, जिससे कोई भी शिक्षक गायक की आवाज बनाने की जिम्मेदारी नहीं ओढ़ता। संगीत को साधना के रूप में न लेकर, केवल एक विषय मात्र समझ कर सीखना भी एक कारण है। खरज साधना आज भी मान्य है तथापि करता कोई नहीं है। इसी प्रकार आवाजशास्त्र का विस्तृत अध्ययन बी. ए. तथा एम. ए. में कराया जाता है, इस अवस्था तक विद्यार्थियों में अनेक दोष आवाज में आ चुके होते हैं।

कण्ठ-संस्कार का आधुनिक रूप

आधुनिक रूप में प्राप्त कण्ठसंस्कार पाश्चात्य की देन है। पश्चिमी देशों में इसका प्रादुर्भाव ईसाई धर्म के प्रचार के साथ हुआ। ऐसा कहा जाता है कि इटली के पोप ग्रेगरी ने धर्मगीत गाने के लिए वृन्दगायकों को तैयार किया तथा इसी के साथ हुआ आवाज बिगड़ने तथा दोषयुक्त होने का प्रारम्भ। परिणामस्वरूप उन दोषों को हटाने के तरीके ढूंढ़ने का कार्य प्रारम्भ हुआ। परन्तु वैज्ञानिक तथा क्रमबद्ध रूप काफी समय बाद सामने

आया। संगीत के इस पहलू को अनेक वैज्ञानिक, एक वैज्ञानिक रूप देना चाहते थे, परन्तु पर्याप्त साधन न होने के कारण इस ओर विशेष प्रगति नहीं हो सकी। इन वैज्ञानिक संगीतज्ञों में एमिल, बैके, अर्नेस्ट जी. व्हाइट, जे. लूइस ओर्टन के कार्य उल्लेखनीय थे।

समयानुसार चिकित्सा विज्ञान तथा शरीर विज्ञान के विकास के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि आवाजनिर्माण प्रक्रिया भी अन्य शारीरिक क्रियाओं की तरह एक शारीरिक क्रिया ही है। Physiology के अन्तर्गत मानव शरीर के दो अंगों (श्रवणयंत्र तथा ध्वनियंत्र) का अध्ययन किया गया। ध्वनि किन किन अवयवों द्वारा तथा किस प्रकार उत्पन्न होती है? उन अंगों के सही कार्य न करने से आवाज में कौन से दोष आ जाते हैं? आदि। भारत में जहाँ आवाजनिर्मिति एक दार्शनिक प्रक्रिया के रूप में मानी जाती थी, जिसमें शारीरिक रचना की उपेक्षा नहीं थी परन्तु उनकी बनावट व कार्यप्रणाली का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं था। दूसरी ओर डॉ. स्टेनले ने वैज्ञानिक तरीके से आवाजनिर्मिति प्रक्रिया को पेश किया। स्टेनले ने अपने कार्य में चिकित्सा विज्ञान के निर्णय तथा खोजों को आधार बनाया। परिणामस्वरूप एक सुनिश्चित रूप में आवाजशास्त्र का जन्म हुआ।

इस शास्त्र के द्वारा आवाज को वैज्ञानिक पद्धति से सुयोग्य बनाकर संगीत के लिए उपयोगी बनाया जाता है। आवाजशास्त्र का प्रमुख कार्य है— "Proper trained voice, which is used for music." इसके अतिरिक्त आवाजशास्त्र की उपयोगिता अथवा शास्त्र के उद्देश्य हम निम्न बिन्दुओं में आँक सकते हैं—

(1) किसी भी आवाज की नैसर्गिकता कायम रखते हुए उसे संगीतोपयोगी बनाना। किसी की नकल करने का शास्त्र में निषेध है।

(2) यह शास्त्र बताता है कि आवाज उत्पन्न करने वाले अवयव व स्नायुओं का किस प्रकार प्रयोग किया जाय कि अधिक समय देने पर भी थकान न हो।

(3) आवाज तैयार करना यानि Pitch कायम करना, आवाज के अनुसार उसमें मधुरता, सुरीलापन, स्थिरता (Steadiness), गूँज तथा सही Volume का ज्ञान कराना व इन विशेषताओं से आवाज को युक्त करना।

(4) विशेष पद्धति से एक या डेढ़ साल तक अभ्यास द्वारा आवाज इस प्रकार तैयार करना कि वह किसी भी प्रकार की गायकी को गले में उतारने में समर्थ हो सके।

(5) गायकी की शिक्षा देने (गुरु) तथा लेने (शिष्य) वाले दोनों को आवाजनिर्मिति में सहायक विभिन्न अवयवों व उनकी कार्य प्रणाली की जानकारी देना।

(6) आवाज में आने वाले दोषों को, कारण सहित बताना तथा उन दोषों को न आने देने के लिए अवयवों के सही उपयोग की जानकारी कराना, जिससे आवाज दोष रहित बन सके।

आवाजनिर्मिति प्रक्रिया

आवाज शास्त्र चूँकि आवाज से सम्बन्धित सभी पहलुओं का अध्ययन करता है अतः आवाज कैसे निकलती है व पैदा होती है, यह जानकारी भी इसके द्वारा दी गई है। मनुष्य शरीर के कौनसे अवयव आवाज पैदा करने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, यह जानना जरूरी है। इन अवयवों को स्टेनले ने तीन भागों में बाँटा है—

(1) गति देने वाले अवयव
(2) आन्दोलन उत्पन्न करने वाले अवयव, और
(3) गूँज पैदा करने वाले अवयव

आवाजनिर्मिति से पूर्व तथा आवाज पैदा होने के समय इन अवयवों की क्या स्थिति रहती है, आवाज पैदा करने में इनका क्या योग है, इनकी कार्य-प्रणाली क्या है और इनके नाम क्या-क्या हैं, इन सभी बातों की जानकारी हम विस्तार से यहाँ दे रहे हैं। साथ ही हम यह भी देखेंगे कि सही आवाज के लिए इनकी स्थिति व कार्य-प्रणाली कैसी होनी चाहिये, और उनकी गलत स्थिति के कारण कौनसा दोष पैदा होता है।

गति देने वाले अवयव

गति देने वाले अंगों में श्वसन संस्थान के सभी अंग प्रमुख व महत्वपूर्ण हैं। गहरी सांस लेने में हमें डायफ्राम तथा पीछे की निचली पसलियाँ विशेष मदद करती हैं। फेफड़े छाती में पसलियों के पिंजरे में बंद रहते हैं। जहाँ पसलियाँ समाप्त होती हैं और पेट का भाग शुरु होता है वहीं पर डायफ्राम स्थित रहता है। सांस लेने पर फेफड़े फैलते हैं व अधिक स्थान घेरते हैं, जिससे डायफ्राम दबकर नीचे आ जाता है। पीछे को, नीचे की पसलियाँ अन्दर से दबाव पड़ने के कारण बाहर की ओर आती हैं। डायफ्राम तथा पीछे की निचली पसलियाँ एक दूसरे के विरोध में काम करती हैं। श्वास बाहर निकालते ही पसलियाँ पूर्व स्थान पर आ जाती हैं तथा डायफ्राम भी यथास्थान

पर आ जाता है। ये दोनों विरोधी कार्य करने वाले अवयव आवाजनिर्मिति के समय संतुलित रहने चाहिये जिससे कार्य सहज तथा कष्ट रहित हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि तनाव उच्छ्वास तथा नि:श्वास के समय सही रूप में रहे, और कंधा, गर्दन तथा छाती के स्नायु शिथिल हों।

आन्दोलन उत्पन्न करने वाले अवयव

ये स्वरयंत्र के नाम से जाने जाते हैं। इसी स्वरयंत्र में मूल रूप से आवाज पैदा होती है। स्वरयंत्र में कुछ स्नायु-समूह होते हैं। इनके नाम व कार्य-प्रणाली निम्न है—

(1) क्रीकोथायराइड मांसपेशी
(2) थाइरोएरीटेनाइड मांसपेशी
(3) क्रीकोएरीटेनाइड मांसपेशी तथा
(4) एरीटेनाइड मांसपेशी।

स्वरयंत्र में इन मांसपेशियों का स्थान कहां है यह स्वरयंत्र की रचना से ज्ञात होता है।

स्वरयंत्र की रचना तथा कार्य-प्रणाली

स्वरयंत्र कार्टिलेज का बना एक डिब्बा होता है। यह श्वास नली के

स्वर-यंत्र की रचना
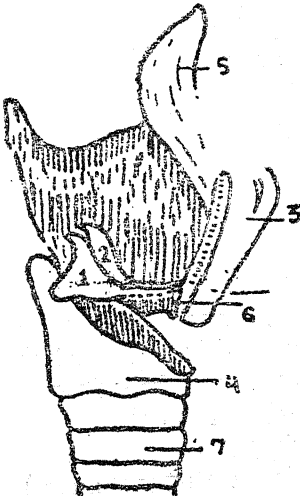
1-2. एरिटेनाइड कार्टिलेज
3. थायराइड कार्टिलेज
4. क्रीकाइड कार्टिलेज
5. एपिग्लोटिस
6. वोकल कॉर्ड
7. श्वास नली
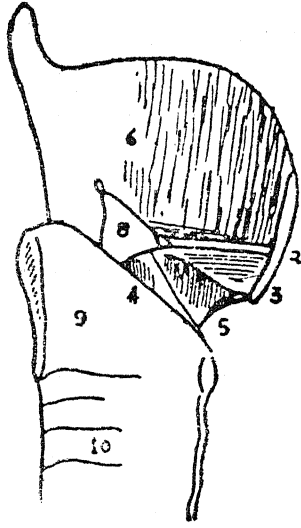
1-8. एरिटेनाइड कार्टिलेज
2-3. थाइरो-एरिटेनाइड मांसपेशी
4-5. क्रीको एरिटेनाइड मांसपेशी
6. थायराइड कार्टिलेज
7. ऊपरी हॉर्न
9. क्रीकाइड कार्टिलेज
10. श्वास नली

स्वर-यंत्र का ऊपरी दृश्य
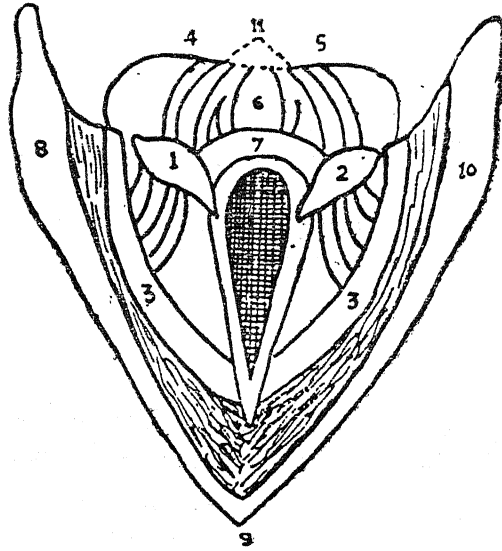
1-2. एरिटेनाइड कार्टिलेज 3-6-3. क्रीकाइड कार्टिलेज
4-5. पीछे की क्रीको एरिटेनाइड मांसपेशियां (Posteriar)
7. एरिटेनाइड मांसपेशी 8-9-10. थायराइड कार्टिलेज
11. वे बंध, जिनसे एरिटेनाइड कार्टिलेज क्रीकाइड से जुड़े रहते हैं।
1-3 और 2-3. आगे की क्रीको एरिटेनाइड मांसपेशी (Lateral)

ऊपर स्थित होता है । इसमें दो वोकल कॉर्ड्स तथा तीन कार्टीलेज होते हैं । ये कार्टिलेज हैं—थायराइड, क्रीकाइड, तथा एरीटेनाइड । एरीटेनाइड संख्या में दो होते हैं और इनका एक सिरा वोकल कार्ड्स से जुड़ा रहता है तथा दूसरा सिरा थायराइड कार्टीलेज से मजबूती से जुड़ा रहता है । थायराइड कार्टीलेज को हम गले पर छूकर महसूस कर सकते हैं । स्वरयंत्र इस थायराइड कार्टीलेज द्वारा पूरी तरह से ढका रहता है । इस कार्टीलेज के नीचे अँगूठी के आकार की क्रीकाइड कार्टीलेज स्थित होती है । सामने की ओर क्रीकोथायराइड माँसपेशी द्वारा यह थायराइड कार्टीलेज से जुड़ी रहती है । इन्हीं माँसपेशियों की सहायता से यह आवश्यकतानुसार थायराइड कार्टीलेज के पास पहुँच जाती है । एरीटेनाइड कार्टीलेज (दोनों) का स्थान थायराइड कार्टीलेज व क्रीकाइड कार्टीलेज के बने डिब्बेनुमा स्थान के भीतर पीछे की ओर होता है । इन्हीं दोनों के साथ वोकल कॉर्ड्स जुड़े रहते हैं । दोनों एरीटेनाइड कार्टीलेज के मध्य में एरीटेनाइड माँसपेशी होती है । यह माँसपेशी थायरोएराटेनाइड की विरोधी पेशी है । यह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक माँसपेशी अपनी विरोधी माँसपेशी की मदद से ही काम करती है ।
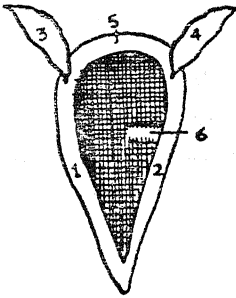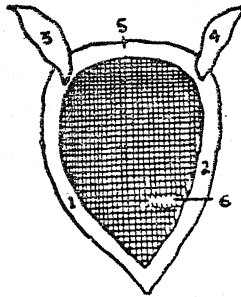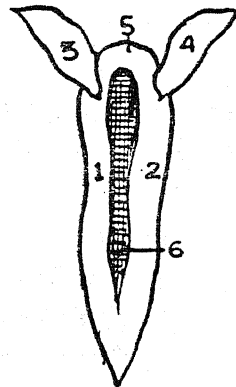
1-2. वोकल कॉर्ड

3-4. एरिटेनाइड कार्टिलेज

5. एरिटेनाइड मांसपेशी

6. ग्लोटिस

एरीटेनाइड माँसपेशी के खिचाव के फलस्वरूप वोकल कॉर्ड्स खिचकर करीब आ जाते हैं। वोकल कॉर्ड्स के मध्य का भाग, जो ग्लोटिस कहलाता है, वह इस समय बन्द हो जाता है और श्वास का अन्दर आना जाना बन्द हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ग्लोटिस एक वाल्ब का काम करता है। जब हम बोलते या गाते हैं तो ग्लोटिस लगभग बन्द होता है। इस प्रकार ग्लोटिस की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(1) विराम की अवस्था (2) श्वासोच्छ्वास की अवस्था तथा (3) आवाजनिर्मिति के समय की अवस्था। ग्लोटिस के बन्द होने पर वोकल कॉर्ड्स सन्तुलन में खिचे रहते हैं। वोकल कॉर्ड्स थायरोएरीटेनाइड माँसपेशियों के कारण गति करते हैं, वे स्वयं कुछ नहीं करते हैं। ये माँसपेशी स्वर-नियंत्रण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ये वोकल कॉर्ड्स में ही स्थित होती हैं। इनके तनाव से ही वोकल कॉर्ड्स तनकर लम्बे व छोटे होते हैं और फलस्वरूप आवाज नीची व ऊँची होती है। यदि ये माँसपेशियां गलत तनाव ले लें तो आवाज दोषपूर्ण निकलती है तथा गलत तनाव गले के लिए भी हानिप्रद है।

एरीटेनाइड माँसपेशी के तनाव लेने के फलस्वरूप वोकल कॉर्ड्स खिचते हैं और ग्लोटिस बन्द हो जाता है, जिससे श्वास नली में से आने वाली वायु के दबाव से वोकल कॉर्ड्स आन्दोलित होते हैं और आवाज उत्पन्न होती है। स्वर नियंत्रण के लिए स्नायुओं के तनाव के साथ-साथ वायु का उचित नियंत्रण भी परमावश्यक है।

गूँज पैदा करने वाले अवयव

हमारे मुँह से निकली आवाज में एक प्रकार की गूँज होती है। यह गूँज, गुँजन कक्ष के विभिन्न अवयवों के सहयोग से पैदा होती है। डॉ. स्टेनले के अनुसार—"गूँज ही सही आवाजनिर्मिति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है।" गूँज पैदा करने में निम्न अवयव मदद करते हैं—

(1) मुख
(2) नासा विवर
(3) खोपड़ी में स्थित खोखले भाग तथा
(4) फैरिंग्स आदि

जब वायु आन्दोलित होकर स्वरयंत्र से बाहर आती है, तब वह नाक आदि से सह-आन्दोलित होती है और मुँह द्वारा बाहर निकलती है। जब फैरिंग्स कार्यरत होते हैं, तब कण्ठ तनकर एक कैविटी (cavity) की तरह बन जाता है। इस कैविटी का आकार स्वर के ऊँचे नीचे होने के साथ-साथ

बदलता है। आवाज में गूँज लाने में जीभ की पेशियाँ भी महत्वपूर्ण रूप से सहायक होती हैं। इनके सही कार्य के परिणामस्वरूप गुँजन-कक्ष सही आकार में रहता है और साथ ही स्वरयंत्र भी ठीक रहता है। जीभ के तनी होने के फलस्वरूप जो आवाज निकलती है, उसे Throaty voice कहते हैं।

पाश्चात्य कण्ठसंस्कार में कुछ महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका उल्लेख तथा वर्णन किये बिना यह अध्ययन अपूर्ण रहेगा। ये शब्द किसी दोष अथवा सही आवाजनिर्मिति के सन्दर्भ में हैं। कुछ प्रमुख शब्द निम्न हैं—

(1) **रजिस्टर**—पाश्चात्य कण्ठसंस्कार में 'रजिस्टर' एक महत्वपूर्ण Term (शब्द) है। रजिस्टर के निर्दोष होने तथा विकसित होने पर गायन की सफलता निर्भर करती है। डॉ. स्टेनले के शब्दो में—"स्वरयंत्र-स्नायु-समूहों का समायोजन, जिनमें कोई एक स्नायु समूह अधिक प्रभावशाली हो, 'रजिस्टर' कहलाता है।"

चूँकि वोकल कार्ड्स को केवल दो स्नायुसमूह नियंत्रित करते हैं, अतः स्टेनले दो रजिस्टर मानते हैं—(1) अपर रजिस्टर तथा (2) लोअर रजिस्टर।

अपर रजिस्टर में एरीटेनाइड माँसपेशी द्वारा लिए गये तनाव के फल-स्वरूप जो आवाज निकलती है उसका समावेश है। इसके विपरीत लोअर रजिस्टर में थायराइड माँसपेशी के तनाव द्वारा उत्पन्न आवाज आती है। स्वरोत्पत्ति निर्दोष हो, इसके लिये दोनों रजिस्टरों का प्रयोग जरूरी है। मंद्रसप्तकीय स्वरों में लोअर रजिस्टर प्रबल रहता है। मध्यसप्तक में दोनों ही रजिस्टर समान रूप से कार्य करते हैं और तार सप्तक में अपर रजिस्टर पर बल रहता है। शास्त्र के अनुसार दोनों रजिस्टरों का सही प्रयोग आवश्यक है, जिससे टोनकलर का विकास हो सके और गला सभी सप्तकों में घूम सके। मिश्रित रजिस्टर (Mixed register) से आवाज में दोष आता है। यह ऐसा दोष है जो आवाज में अन्य दोष भी पैदा करता है।

(2) **वायब्रेटो** (Vibrato)—वायब्रेटो का बिगड़ा हुआ रूप ही आवाज में कंपकंपाहट को जन्म देता है। इसे आधुनिक शास्त्र में 'Tremelo' कहते हैं। यदि आरम्भ से ही इस दोष को आने न दिया जाय तो वृद्धावस्था में भी यह दोष बाद में आता है।

(3) Attack—स्टेनले ने सही शुरुवाद को तकनीकी भाषा में attack

कहा है। गायन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। उत्तम आवाज के आवश्यक तत्व हैं—सही श्वसन क्रिया, स्वरयंत्र की तथा गुँजनकक्ष की माँसपेशियों का सही समायोजन। ये सभी क्रियाएँ पूर्णरूप से अनैच्छिक हैं। स्वरयंत्र तथा फैरिंग्स के पूर्णतया विकसित हो जाने पर अनेक दोषों से बचाव हो जाता है। सही शुरुवाद के लिए जहां विभिन्न माँसपेशियों का सही समायोजन जरूरी है, वहीं इन सबका अलग-अलग दोष रहित होना भी परमावश्यक है। Attack के लिए स्टेनले कहते हैं कि सबसे पहले गायक को यह सोच लेना चाहिये कि उसे क्या गाना है। फिर गुँजनकक्ष को आवश्यकतानुसार तैयार रखकर बिना किसी हिचकिचाहट के, ग्लोटिस को बिना धक्का लगाये स्वर लगाना चाहिये। इसके लिए स्टेनले ने कहा—"फैरिंग्स के खोखले भाग को तैयार करना, वोकल कॉर्ड्स का खिचना तथा स्वर लगाना, सब एक साथ होना चाहिये।"

स्टेनले ने गायन के समय पैदा होने वाली आवाज तथा बातचीत में प्रयुक्त की जाने वाली आवाज में भेद बताया है। उनके अनुसार दोनों में निम्न भेद दृष्टिगोचर होते हैं—

(1) गायन में उच्चरित स्वर बातचीत के स्वर की अपेक्षा अधिक लम्बा किया जाता है।

(2) गायन में जिस प्रकार का वायब्रेटो प्रयोग में लाया जाता है, वैसा बातचीत में नहीं।

(3) गायन में शब्द व स्वर जिस प्रकार जुड़े रहते हैं, वैसे संभाषण में नहीं।

(4) गायन में शब्द व स्वर की ऊँचाई-निचाई में जल्दी जल्दी परिवर्तन होता है। जो Pitch variation गायन में होता है, वह बातचीत में नहीं।

इस अन्तर से स्पष्ट है कि गायन के लिए आवाज का विशेष प्रकार व तैयारी चाहिये। उसके लिए आवाज को प्रशिक्षित करना पड़ता है। आवाज प्रशिक्षित करने का अर्थ है—गलत तकनीक के कारण आए दोषों को दूर करना। आवाजनिर्मिति में सहायक माँसपेशियों को शक्तिशाली बनाना। स्वरोत्पत्ति के समय गला तथा गर्दन की माँसपेशियाँ शिथिल होनी चाहिए। चूँकि गले के अतिरिक्त होठ, मुख, जीभ आदि भी स्वरोत्पत्ति में सहायक होते हैं, अतः इन्हें भी ढीला व स्वतंत्र छोड़े रखना चाहिये। इनमें से किसी एक के भी अधिक तनाव लेने पर या तो मुखाकृति विकृत हो जाती है अथवा आवाज दोषपूर्ण हो जाती है।

गायनोपयोगी आवाज

कोई भी गायक, चाहे गुरु हो अथवा शिष्य अथवा आरम्भिक संगीत शिक्षा लेने वाला छात्र, उसकी आवाज में कौनसी विशेषताएँ होनी चाहिये और उन्हें पैदा करने के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिये, उसे जानकारी होनी चाहिये। यहां हम अच्छी आवाज की कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात करेंगे—

(1) **अपना स्वर**—गायन में सर्वप्रथम गाने वाले को अपना स्वर निश्चित कर लेना चाहिये। हर व्यक्ति के गले की अपनी अपनी क्षमता होती है। वह स्वर जिससे मंद्र तथा तार दोनों सप्तकों में कम-से-कम मध्यम या पंचम तक आवाज जा सके, उसे ही अपना स्वर बनाना चाहिये। तत्पश्चात अभ्यास द्वारा तीनों सप्तकों में पूरी तरह फिर सके, ऐसी आवाज बनाई जाय।

(2) **श्वासोच्छ्वास**—श्वास की दीर्घता गायन में बहुत उपयोगी तथा महत्वपूर्ण है। एक ही सांस में स्वरालंकारों का गायन करने से श्वास पर काबू पाया जा सकता है। लगातार अभ्यास करके श्वास की दीर्घता लायी जा सकती है। यह कार्य (दीर्घता, लम्बासांस) धीरे-धीरे होता है, अतः धैर्य से अभ्यास जारी रखा जाना चाहिये। श्वास को कब तोड़ना, जिससे गायन में स्वरसमूह, शब्द अथवा राग तथा ताल न टूटे, इसकी विशेष जानकारी दी जाय तथा उसके अनुकूल अभ्यास किया जाय।

(3) **मधुरता**—गायन में गायक की कलाकारी बाद में सामने आती है। सर्व प्रथम षड्ज के साथ ही उसकी आवाज सुनाई देती है, अतः उसमें मधुरता होना जरूरी है। कण्ठ स्थान की अच्छी स्थिति, अभ्यास, आवाज को सहज रूप में निकालने से आवाज में मधुरता पैदा होती है। आवाज की मधुरता (Softness) अथवा गले का लोच, जिसमें स्वर बड़े सहज तरीके से तथा स्निग्धता से निकलते हैं, संगीत के लिए बहुत आवश्यक है। आवाज में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं होनी चाहिये।

(4) **आवाज की गहराई**—गले की रचना पर आवाज की गहराई निर्भर करती है, साथ ही आवाज पैदा करने वाले भाग पर भी यह निर्भर है। तथापि मुंह कम खोलकर गाने से Volume और कम हो जाता है। मन्द्र सप्तक अभ्यास द्वारा तथा मुंह को एक इंच खोल कर गाने से Volume सही रखा जा सकता है। आवाज को गले में दबाकर नहीं निकालना चाहिये वरन खुली आवाज हो, जिससे उसे दूर तक सुना जा सके।

(5) **सुरीलापन**—आवाज सुनने में मीठी (Mellowness) तथा सही

लगने वाली होनी चाहिये। आवाज में ये दोनों विशेषताएँ पैदा करने में तानपूरा बहुत ही सहायक होता है। तानपूरे के साथ अभ्यास करने (स्वर-साधना आदि) से आवाज सुरीली तथा गूँजयुक्त होती है। हारमोनियम के स्वर छेड़कर अथवा साथ बजाकर अभ्यास करने से स्वयं को, यथास्थान स्वर लगाने की दक्षता प्राप्त नहीं होती, क्योंकि हारमोनियम उसे सहारा देता है। अतः अभ्यास हमेशा तानपूरे के साथ ही किया जाना चाहिए।

(6) **स्पष्टता**—गायन में चूंकि स्वर के साथ शब्दों का उच्चारण भी होता है इसलिए शब्दों का स्पष्ट उच्चारण होना चाहिए। अकार, इकार, उकार तथा ओकार अथवा अंकार आदि के समय आवाज में कम-ज्यादा (तेज-धीमी) होने का दोष नहीं आना चाहिये। आवाज हर समय समान रहनी चाहिये। इसके लिए नोम, तोम के अलापों का खूब अभ्यास करना चाहिये।

(7) **काकु**—गीत रचना अथवा राग की प्रकृति के अथवा भावों के अनुरूप आवाज निकालना काकु कहलाता है। ठुमरी की एक पंक्ति को विभिन्न काकु (क्रोध, दैन्य, विनती, रूठना, अधिकारपूर्ण) में गाना ही उसकी विशेषता है। आवाज में ये भेद दिखाने की सामर्थ्य होनी चाहिए, इसके लिए अभ्यास जरूरी है।

(8) **ट्रेनिंग**—उपरोक्त सभी विशेषताओं की, सीखने वाले को जानकारी देना तथा सीखने की प्रारम्भिक अवस्था में ही इन गुणों को पैदा करने की ट्रेनिंग दी जानी जाहिये। आवाज को दोषों से बचाने के तरीके, गला ठीक रखने के लिए नियम जैसे पेट खराब न रहना, देर तक न जागना, चिल्लाकर न बोलना या गाना आदि निषेधों की जानकारी दी जानी चाहिए। ट्रेनिंग के अभाव में गलत अभ्यास से आवाज में अनेक दोष पैदा हो सकते हैं। विभिन्न अवयव (छाती, गर्दन, होठ, मुँह, जीभ, कन्धे आदि) ढीले छोड़ने चाहिए, इसकी जानकारी दी जाय। आवाज नक्की न हो, उसमें कंपकंपाहट न हो, स्पष्ट उच्चारण हो, गूँज हो, सहज निकाली गयी हो, इन सभी बातों की जानकारी देना तथा उसके लिए प्रशिक्षण जरूरी है।

उपरोक्त समस्त विवेचन से ज्ञात होता है कि आवाजशास्त्र एक विकसित व उपयोगी शास्त्र है, जिसका अपना क्षेत्र, नियम व इतिहास है। तथापि यह कहना कि भारत में आवाजशास्त्र नहीं था या कण्ठ-संस्कार बिल्कुल नहीं था, गलत है। एक निश्चित तथा क्रमबद्ध अथवा वैज्ञानिक इतिहास के रूप में यह नहीं था तथापि प्राचीन संगीताचार्य इस ओर सचेत न थे अथवा इस दिशा से अनभिज्ञ थे, ऐसा नहीं था। एक स्वतंत्र शास्त्र न होते हुए भी उससे सम्बन्धित अनेक तथ्यों, जो कि आज भी वैज्ञानिक आधार पर आवाज-शास्त्र में मान्य हैं, का उल्लेख हमें मिलता है।

अध्याय 12

संगीत एवं भारतीय संस्कृति

किसी भी देश की कलाएँ उस देश की आत्मा होती हैं। उस देश में विकसित हुई संस्कृति की झलक स्पष्ट रूप से वहाँ की कलाओं में मिलती है। संस्कृति के जो भी मानदण्ड किसी देश के होते हैं, उनसे विमुख होकर कलाएँ विकसित नहीं हो सकतीं। संस्कृति-विरोधी कलाओं को देश के लोग स्वीकार नहीं करते। अतः स्वाभाविक है कि ये कलाएँ किसी भी देश की संस्कृति के प्रतिरूप स्वरूप होती हैं।

भारत एक विशाल देश है। इसकी सभ्यता व संस्कृति बहुत प्राचीन है तथा अनेक मोड़ों, घटनाओं के बाद आज के प्राप्त रूप तक पहुँची है। यहाँ की संस्कृति भी अनेक विशेषताओं, सिद्धान्तों व मानदण्डों से परिपूर्ण है। संगीत इन विशेषताओं, मान्यताओं के कहाँ तक अनुरूप है, इसका विवेचन इस अध्याय में किया जाएगा। सर्वप्रथम संक्षेप में हम संस्कृति क्या है तथा उसके अर्थ से सम्बन्धित कुछ परिभाषाओं का भी अध्ययन करेंगे।

संस्कृति का अर्थ

बोलचाल की भाषा में सभ्यता तथा संस्कृति, ये दोनों शब्द युगल रूप में साथ-साथ प्रयोग में लाये जाते हैं। यद्यपि इन दोनों का सम्बन्ध भी घनिष्ट है तथापि दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। सभ्यता यदि शरीर है तो संस्कृति आत्मा है। जहाँ सभ्यता मानव के बाह्य रूप को उजागर करती है, वहीं संस्कृति उसकी आत्मा, विचारों तथा संस्कारों का उल्लेख करती है। सभ्यता का विकास मूलतः भौगोलिक वातावरण तथा ऐतिहासिक अनुभवों पर निर्भर करता है, इसका रूप बदलता रहता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे गुण होते हैं जो समाज विशेष के अभिन्न अंग बन जाते हैं, जिनमें उस समाज विशेष की आत्मा होती है। इनमें हजारों वर्षों में थोड़ा-सा ही परिवर्तन आता है, वह परिवर्तन भी, किसी समाज-सुधारक अथवा किसी धार्मिक नेता के आह्वान पर अथवा क्रांति तथा विरोध के बाद। सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति समाज की गहरी आस्था होती है तथा सामाजिक डर के कारण, चली आ

रही मान्यताओं का उल्लंघन अथवा उनमें परिवर्तन शीघ्र स्वीकार नहीं किया जाता है। इसी प्रकार किसी राष्ट्र की अपनी संस्कृति होती है, जिसमें समाज की आत्मा होती है। इसका विकास अनेक परिस्थितियों के कारण होता है और ये नियम, तरीके उस राष्ट्र के लोगों के अभिन्न अंग बन जाते हैं। ये गुण समाज अथवा जाति विशेष को संस्कारों के रूप में प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लंघन समाज के डर से नहीं किया जाता। इस प्रकार के मान्यता प्राप्त नैतिक, मानसिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक आदर्श पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते हैं। ऐसे संस्कार-जन्य गुण ही संस्कृति कहलाते हैं।

अंग्रेजी में संस्कृति के लिए 'Culture' शब्द है। इस शब्द का सम्बन्ध 'Cultivation' शब्द से है, जिसका अर्थ है 'खेती'। आचार्य नरेन्द्रदेव ने इसीलिये कहा है—"संस्कृति चित्तभूमि की खेती है।" अतः इसका सम्बन्ध हृदय, मस्तिष्क, रुचि और बुद्धि से है। यह मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, शक्तियों तथा उसके परिष्कार का द्योतक है।

हिन्दी साहित्य में यह माना जाता है कि संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु के योग से बनता है, जिसका अर्थ है शुद्ध या परिष्कृत करना।

ब्रह्मानन्द सरस्वती ने संस्कृति शब्द को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'सम्' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु व भूषण के रूप में 'सुट्' का आगमन करके 'क्तन्' प्रत्यय जोड़ने से संस्कृति शब्द बना। अतः संस्कृति मनुष्य की वैयक्तिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन के समस्त क्षेत्रों में लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति की चेष्टाएँ है। संस्कृति के अर्थ को भलीभांति समझने के लिए विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है।

संस्कृति की परिभाषा

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की कुछ परिभाषाएँ निम्न हैं—

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी—"संस्कृति मनुष्य की विभिन्न साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। यह सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव है।"

ई.बी. टेलर ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में कहा है—"Culture is the complex whole, which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities, acquired by man as a member of society".

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार—"संस्कृति मानव जीवन की वह आस्था है जहाँ उसके प्राकृत रागद्वेषों में परिमार्जन हो जाता है।"

डाँ. वासुदेव शरण अग्रवाल—"संस्कृति मनुष्य की भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है, हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं तैरती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।"

डॉ. सत्यकेतु के शब्दों में—"चिंतन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर व कल्याणमय बनाने के लिये मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।"

टी. सी. इलियट—"Culture is not merely the sum of several activities but a way of life."

मोकाइवर के अनुसार—"It is the expression of our nature in our modes of living and of our thinking in our every day inter course in art, in literature, in religion, in recreation and enjoyment."

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात यह कहा जा सकता है कि संस्कृति द्वारा मनुष्य के जीने का ढंग, सोचने का ढंग, उसके जीवन के मूल्य, उसकी धार्मिक अथवा सामाजिक अवस्थाओं का ज्ञान होता है। यह सदियों तक की यात्रा कर समाज पर छायी रहती है। संस्कृति में, मनुष्य की मनोवृत्तियों के संस्कार रहते हैं, रहन-सहन की रूढ़ियाँ, आचरणगत परम्पराएँ, धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक मूल्य, रुचि, कला-कौशल, बौद्धिक विकास तथा परम्पराओं, सभी का स्थान होता है।

संस्कृति समाज का दर्पण होती है और कलाएँ संस्कृति का दर्पण। संगीत एक कला है अत: उसमें संस्कृति की झलक, अनुरूपता, मान्यताओं, परम्पराओं का वहन होना चाहिए। भारतीय संस्कृति, चाहे वैदिककालीन हो, चाहे मध्यकालीन अथवा उत्तरकालीन, कुछ अपरिवर्तनीय आदर्श ग्रहण किये हुए है। विभिन्न जातियों के सम्पर्क, सामाजिक तथा राजनैतिक उथल पुथल के बावजूद इसकी अपनी विशेषताएँ कायम हैं। ये विशेषताएँ ही भारतीय संस्कृति के आदर्श हैं। इन विशेषताओं अथवा आदर्शों की पालना संगीत में भी होती है। इसी बात को यूँ कहा जा सकता है कि संगीत में भारतीय संस्कृति के आदर्शों, धारणाओं, मान्यताओं को महत्वपूर्ण व उचित स्थान दिया गया है। अतः संगीत भारतीय संस्कृति के आदर्शों का प्रतिरूप है। भारतीय संस्कृति की उन मूलभूत विशेषताओं की स्थिति संगीत में क्या है,

तथा संगीत में उनका क्या स्थान है, वे आदर्श क्या हैं आदि का विश्लेषण यहां किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(1) **धर्म की प्रधानता**—भारतीय संस्कृति में धर्म का सदैव उच्च व महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसी प्रकार लोगों का जीवन भी धार्मिकता से ओतप्रोत रहा है। आम भाषा में हम धर्म को ईश्वर (असीम शक्ति, नाम चाहे जो हो) में आस्था रखना तथा उसकी पूजा, अर्चना, उपासना को कह सकते हैं। कोई भी धर्म (हिन्दू, सिख, जैन, मुस्लिम) हो, एक सर्वशक्तिमान् की आस्था सभी में है, केवल उन्हें भिन्न नामों से माना जाता है। भारत में जहां 33 करोड़ देवी-देवता मानकर अपनी आस्था को धार्मिक रूप देते हैं वहीं नव ग्रहों, वृक्षों (पीपल, बड़ आदि), अग्नि, जल आदि तक को भी पूजनीय माना जाता है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, कर्मफल, ईश्वरीय शक्ति आदि ऐसी धार्मिक आस्थाएँ हैं जिनके डर से व्यक्ति बुरे काम नहीं करता।

संगीत का धर्म से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। प्राचीन समय में संगीत तथा ईश्वर भक्ति, स्तुति एक सिक्के के दो पहलू की तरह थे। संगीत (गायन, वादन) मन्दिरों में ही पलता बढ़ता था। पूजा-अर्चना, चाहे वह मन्त्र-पाठ हो अथवा आरती हो या फिर भजन हो, सांगीतिक रूप में ही था। नृत्य भी मन्दिर में ही प्रयुक्त था। देवदासियों द्वारा ईश्वर के समक्ष नृत्य किया जाता था। बाद के समय में भी संगीत की एक शाखा भक्ति संगीत के रूप में बराबर बनी रही तथा आज भी है। अनेक ध्रुवपद देवताओं (शिव, सरस्वती, गणेश आदि) पर आधारित हैं, ख्याल कृष्ण, राम, गणेश आदि पर। इसी प्रकार भजनों में, भक्ति कर ले, ईश्वर का ध्यान कर ले, जीवन थोड़ा है, जग असत्य है, अच्छे काम ही साथ जाएँगे, इसी प्रकार की आस्थाओं का वर्णन मिलता है। संगीत में राग-ध्यान व रागचित्र देवी-देवताओं पर रचे-लिखे गये। अनेक संगीत वाद्य—रुद्रवीणा, सरस्वती वीणा आदि तालों के नाम ब्रह्मताल, रुद्रताल आदि देवता नामों पर रखे गये हैं। इससे सिद्ध है कि संगीत धर्म से कभी अलग नहीं रहा।

धर्म का व्यापक अर्थ यदि देखा जाय तो उसका एक रूप है राष्ट्रीय धर्म तथा दूसरा है विश्व धर्म अथवा मानव धर्म। राष्ट्रीय धर्म से संगीत जुड़ा है यह सभी जानते हैं। राष्ट्रगान, राष्ट्रीय गीत, देश भक्ति के गीत, देश के महापुरुषों से सम्बन्धित गीत तथा मार्च धुनें व मिलट्री बैण्ड आदि सभी राष्ट्रीय भावना (राष्ट्रधर्म की भावना) को पैदा करती है व साथ ही मजबूत करती है। इसी प्रकार विश्व धर्म का अर्थ है मानव धर्म। किसी भी देश

के लोग हों, सभी समान हैं, सबको प्रेम से रहना चाहिये। इसके लिए संगीत सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है। भारत, जियो और जीने दो, पंचशील जैसे सिद्धान्त को विश्व धर्म के संदर्भ में देखता है तो संगीत द्वारा संस्कृतियों का आदान-प्रदान कर विभिन्न देशों में प्रेम-भावना को बढ़ाता है।

(2) **समन्वयपरकता**—भारत में आर्यों से लेकर अंग्रेजों तक जितनी जातियाँ आयीं उनका मिश्रण हमारी संस्कृति में मिलता है। यहाँ के धर्म, विचारों, रीतिरिवाजों, प्रथाओं, पोशाकों तथा कलाओं पर विभिन्न जातियों का प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव का कारण है कि हमारी संस्कृति में कट्टरता का महत्व न होकर विभिन्नताओं को आत्मसात करने का गुण है और यही है समन्वय। इसी समन्वय के परिणामस्वरूप हर जाति, धर्म, सम्प्रदाय, सिद्धान्तों, मान्यताओं को इसमें स्थान मिला।

संगीत में भी अन्य कलाओं की तरह तथा अन्य विचारों की तरह विभिन्न जातियों, लोगों तथा समय के प्रभाव का समन्वय स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मुगलों के समय में संगीत बहुत प्रभावित हुआ। पूरे भारत में एक-सा संगीत जो प्रचार में था, उसमें से उत्तरी हिस्से का संगीत अलग रूप लेने लगा। यह प्रभाव वाद्यों, रागों के नाम व प्रकार, बंदिशों में, नृत्य आदि संगीत के हर पहलू पर पड़ा। तबला, सितार, ख्याल, ठुमरी, कत्थक, नवीन रागें, मुगलों के सम्पर्क में पनपे, जिन्हें हमारे संगीत ने आत्मसात कर लिया और ये उसी तरह मान्य हैं, जैसे ध्रुवपद, पखावज, ग्राममूर्च्छना मान्य थे।

आज भी पाश्चात्य प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। गिटार, वॉयलिन, हारमोनियम आदि अनेक पाश्चात्य वाद्य हमारे संगीत में स्थान पा चुके हैं।

(3) **धार्मिक सहिष्णुता व विचार स्वातंत्र्य**—भारतीय संस्कृति की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि धार्मिक क्षेत्र में यह कभी कट्टर नहीं रही। हर व्यक्ति, समाज को अपनी इच्छानुसार धर्म, ईश्वर, आस्थाओं को मानने की स्वतंत्रता रही है। यही कारण है कि केवल हिन्दू धर्म में आस्तिकों के 33 करोड़ देवता हैं, जिनमें से हर एक को, व्यक्ति अपनी इच्छा से मानता है। अनेक सम्प्रदाय, रामस्नेही, विष्णु सम्प्रदाय, शैव, आर्य समाज आदि इसी के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त हर व्यक्ति को अपने विचार रखने तथा उनके अनुसार पालन करने की छूट है। धर्म के लिए समाज या राज्य (सरकार) की ओर से सहिष्णुता का मार्ग अपनाया गया है।

संगीत में भी हम यह बात पाते हैं। इसमें एक ओर राम, कृष्ण, शिव, गणेश आदि से सम्बन्धित रचनाएँ उपलब्ध हैं तो अल्लाह, करीम आदि से सम्बन्धित भी। इसी प्रकार संगीत के महान गायक मुसलमान भी हैं तो हिन्दू भी। हिन्दुओं में किसी सम्प्रदाय विशेष या धर्मावलम्बी को महत्व नहीं है, वरन् योग्यतानुसार कोई भी हो। इसी प्रकार पंजाबी भाषा के अनेक ख्याल व टप्पे संगीत में उपलब्ध हैं, तो ब्रज व अवधी भाषा के भी हैं। संगीत कभी भी किसी एक जाति या धर्म की धरोहर के रूप में नहीं रहा। संगीत में हर धर्म व जाति को स्थान दिया गया है तो हर जाति व धर्म में संगीत है। गुरुद्वारों में गुरुवाणी के रूप में, मस्जिदों में कव्वाली के रूप में, मन्दिरों में आरती व भजनों के रूप में तो गिरिजाघरों में प्रार्थनाओं के रूप में।

संगीत में विचार स्वातंत्र्य भी मिलता है। राग के नियम, निश्चित, स्वरूप में बंधे रहने के बाद भी, आलाप, तान, उपज, दुगुन तिगुन, मुखड़े आदि के रूप में हर गायक वादक को अपनी कल्पना, विचार शक्ति द्वारा प्रस्तुत करने की छूट है। पाश्चात्य की तरह रचना को अपरिवर्तनीय रूप यहां नहीं दिया जाता है। यही कारण है कि हमारा संगीत कभी पुराना नहीं होता। विचार स्वातंत्र्य के रूप में नवीन कल्पनाएँ उसे सदा नया रूप देती रहती हैं। विभिन्न घराने, गायन शैलियाँ, नवीन रागों की, रचनाओं (बंदिशों की) की निर्मिति इसी के परिणामस्वरूप सम्भव है।

(4) **आत्मतत्व की महत्ता**—हिन्दू धर्म में शरीर के नाश व आत्मा के अमर होने में विश्वास किया गया है। यही कारण है कि पुनर्जन्म व कर्मफल भी माना जाता है। धर्म के विभिन्न पंथ व मत इसी अमर आत्मा की पवित्रता व उसके मोक्ष पर थोड़े बहुत अन्तर के साथ बल देते हैं। कोई अच्छे कार्यों द्वारा इसकी मुक्ति का मार्ग बताते हैं तो कुछ कठिन तपस्या को, कुछ भक्ति को तो कुछ योग साधना को। ये विभिन्न मार्ग उस एक ही उद्देश्य की ओर अग्रसर हैं। बुद्ध, महावीरस्वामी, मीरा, सूर इसी प्रकार विभिन्न मार्गों द्वारा आत्म-साक्षात्कार में सफल हुए।

भारतीय संगीत भी मोक्ष प्राप्ति तथा ईश्वरीय भक्ति का एक साधन है। मीरा, सूर, तुलसी, त्यागराज, हरिवल्लभ आदि ऐसे ही संत थे, जिन्होंने संगीतप्रधान भक्ति द्वारा ही ईश्वर से एकाकार किया। ये गाते गाते ईश्वर में लीन हो जाते थे, आंखों से आनंदाश्रु बहने लगते थे, यही आत्मसाक्षात्कार है। नाद की उपासना जिसे 'नादयोग' के नाम से भी जाना जाता है, योग का (योगमार्ग, जो मोक्ष प्राप्ति का एक मार्ग है) ही एक प्रकार है। संगीत

द्वारा ही नादब्रह्म की उपासना से वह स्थिति प्राप्त होती है, जब इहलोक से हटकर व्यक्ति उस आनन्द की दुनिया में पहुंचता है, जिसे 'आत्मानंद' कहते हैं। यही आनन्द ब्रह्मानंद सहोदर कहलाता है।

(5) **एक ईश्वरवाद**—हिन्दू संस्कृति में ईश्वर को एक सर्वेसर्वा के रूप में स्वीकार किया गया है। यह अपनी-अपनी इच्छा व आस्था है कि वह शिव है अथवा विष्णु, राम है या कृष्ण, देवी (दुर्गा) है या सरस्वती, गणेश है या हनुमान। लेकिन वही एक शक्ति रूप में प्रकृति, जड़, चेतन सब में विद्यमान है और ये सब उसी के द्वारा संचालित होते हैं।

संगीत में इस एक सत्ता के प्रतिरूप में 'ध्वनि' अथवा 'नाद' को स्थान प्राप्त है। उसे ही ब्रह्म रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए कहा है—

नादरूप: स्मृतोब्रह्म, नादरूपो जनार्दन: ।
नादरूपा पराशक्ति, नादरूपो महेश्वर: ।।

नाद ही प्राण तत्व है और नाद ही ईश्वर है। सम्पूर्ण जगत नादमय तथा नाद के अधीन है।

(6) **विश्वबन्धुत्व की भावना**—भारतीय संस्कृति में शांति, प्रेम तथा सहयोग का विशेष महत्व है और जियो और जीने दो के सिद्धांत को मान्यता दी गई है। किसी के प्रति वैर रखना, अपने से हीन समझना, किसी दूसरे के अधिकारों का हनन करना आदि बातों को हमेशा से अनैतिक, अधार्मिक माना गया है। आज के युग में पंचशील इसका उदाहरण है। हर एक को उसी आत्मा का रूप समझकर प्रेम करना, दूसरों के प्रति कल्याण की भावना, अस्वार्थ आदि गुण आदर्श रूप में माने जाते हैं।

संगीत का एक उद्देश्य मानव कल्याण की ओर ले जाना है। गायक वादक स्वयं तो आनंद प्राप्त करता ही है, सुनने वालों को भी आनंदित करता है। इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत में वह ताकत है, जिससे नैतिक गुण यथा दया, प्रेम, सहयोग की भावना का विकास भी होता है। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के लोग भारतीय संगीत की ओर आकृष्ट हैं। जहाँ पश्चिमी संगीत तामसी वातावरण से युक्त होने व पैदा करने के कारण भोग-विलास व स्वार्थ की भावनाओं को भड़काता है, वहीं हिन्दुस्तानी संगीत अपनी धीर-गम्भीर व सात्विक प्रकृति के कारण प्रेम, दया, पवित्रता को पोषित करता है। विश्वप्रसिद्ध वायलिन वादक यहूदी मैनुहिन ने कहा है—"भारतीय संगीत में एक प्रकार की चंचलता का अभाव है, उसमें एक शांति है, धीमापन है।" यही विशेषता हमें (गायक व श्रोता) को सत्व की ओर ले जाती है। प्राणि-प्राणि समस्त विश्व के समान है, उसमें राष्ट्रों की सीमा नहीं

हैं, अतः सबके प्रति प्रेम, सहानुभूति, सहयोग जरूरी है। तभी सम्पूर्ण विश्व "वसुधैव कुटुम्बकम्" बनेगा। संगीत विश्व-बन्धुत्व की आधारशिला प्रेम, दया, सहयोग आदि की भावना को परिपोषित करता है।

(7) **भक्ति की प्रधानता**—हिन्दू संस्कृति में अथवा भारतीय संस्कृति में मोक्ष प्राप्ति या ईश्वर को प्रसन्न करने का एक महत्वपूर्ण मार्ग है—भक्ति। कृष्ण ने ज्ञान योग, कर्म योग व भक्ति योग नामक जो तीन मार्ग बताए, उसमें सबसे सरल तथा असरदार भक्ति योग है। जो व्यक्ति सच्चे तथा निश्छल भाव से भक्ति करता है, उसका प्रभाव एक तपस्वी से अधिक होता है। भक्ति तथा संगीत दोनों ही सदा से समानान्तर रूप में साथ रहते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि आरम्भ में संगीत की हर विधा भक्ति व ईश्वर से ही जुड़ी थी। आज भी भक्ति संगीत में भजन-कीर्तन, आरती, कव्वाली आदि मान्य हैं और भक्ति से संगीत अलग नहीं व संगीत से भक्ति अलग नहीं की जा सकती। अष्टछाप कवि हों अथवा सूर, मीरा, माधवाचार्य हों अथवा शंकराचार्य, निर्गुण भक्ति मार्ग हो या सगुण भक्ति मार्ग, आर्य समाज हो अथवा और कोई पंथ, सभी में संगीत का (गेय रचनाओं) समान महत्वपूर्ण स्थान है। शास्त्रीय संगीत में भी भक्ति के पद मिलते हैं और भक्ति संगीत के रूप में संगीत की एक शाखा आज भी बहुत प्रिय, प्रचलित व विकसित है।

(8) **लोक संगीत तथा संस्कृति**—किसी भी संस्कृति में लोक कलाओं का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। संगीत की अविरल रूप से बहने वाली दो धाराओं में एक शास्त्रीय संगीत है तो दूसरी लोक संगीत। लोक संगीत समूचे भारत की संस्कृति को उजागर करता है। विभिन्न स्थानों की अथवा प्रान्तों की भाषा, ऐतिहासिक प्रसंग, भौगोलिक स्थिति, उद्योग-धन्धे, फसलें, पारिवारिक पृष्ठभूमि, धार्मिक आस्थाओं, वहां के विशेष देवी-देवता, उत्सव-पर्व सभी की छवि व ज्ञान लोक संगीत से प्राप्त होता है। यही कारण है कि सांस्कृतिक आदान प्रदान का सबसे सशक्त तथा प्रभावपूर्ण माध्यम संगीत है।

(9) **अनेकता में एकता**—भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि इसमें विभिन्नताएँ (धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, सैद्धान्तिक आदि) होते हुए भी एक रूप होकर एक संस्कृति का निर्माण करती है। स्थानीय रीति-रिवाजों, प्रथाओं, परम्पराओं, उत्सवों-पर्वों, पारिवारिक व्यवस्था में भेद रहता है तथापि मूल रूप में वे सब एक हैं और एक भारतीय संस्कृति बनाते हैं। इन सभी विभिन्नताओं को समेटने की क्षमता हमारी संस्कृति में है।

भारतीय संगीत में भी अनेकता में एकता दृष्टिगोचर होती है। एक ही राग को हर गायक विभिन्न रूप में प्रस्तुत करता है, अनेक बंदिशें आदि विभिन्न रूप लिये होती हैं, पर वे सब विभिन्नता लिये होने पर भी, उस एक राग में आती हैं। हमारे राग भी भारतीय संस्कृति की तरह अनेकता को समेटने में सक्षम हैं। कितनी ही विभिन्नता, नवीनता, प्रकार से प्रस्तुत किया जाय, यमन राग यमन ही रहता है तो भैरव, भैरव ही। अतः हमारे राग भी विशाल हैं, जिनमें विभिन्नताएँ समा जाती हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के आदर्श अथवा विशेषताएँ संगीत द्वारा मान्य हैं। संगीत, संस्कृति की विशेषताओं के सहयोगी रूप में है। जहां हमारी संस्कृति शांति, धर्म व अध्यात्म-प्रधान है, वहीं संगीत भी इन्हीं आदर्शों से युक्त है। पाश्चात्य देशों में वहां के समाज में जैसा स्वार्थ, अस्थायित्व (पति-पत्नी सम्बन्ध तक अस्थाई हैं), भागदौड़ व उच्छृंखलता व्याप्त है, वहां का संगीत भी वैसा ही शोरयुक्त, बिना स्थाई स्वर (षड़ज की धारणा नहीं वरन् एक ही रचना में विभिन्न कॉर्ड्स) की महत्ता के तथा वैलासिक वातावरण को पुष्ट करने वाला है। उसी के विपरीत हमारी संस्कृति के अनुकूल शांत, मधुर तथा अध्यात्म की प्रेरणा देने वाला संगीत यहां प्रचलित है। अतः यह कहना गलत नहीं है कि हिन्दुस्तानी संगीत या भारतीय संगीत यहां की संस्कृति के आदर्शों के अनुकूल, अनुरूप तथा प्रतिरूप-स्वरूप है।

अध्याय 13

संगीत तथा धर्म

भारत हमेशा से एक धर्म-प्रधान तथा अध्यात्म-प्रधान देश रहा है। यही कारण है कि यहाँ की समस्त कलाएँ, दर्शन, चिंतन आदि इसी ओर उन्मुख रहे हैं, परिणामस्वरूप धर्म से उनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। संगीत चूंकि एक कला है, अत: संगीत तथा धर्म का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है, परन्तु इस सम्बन्ध पर दृष्टि डालने से पूर्व धर्म क्या है, यह जान लेना जरूरी है।

धर्म का अर्थ

धर्म का स्वरूप काल, स्थान, जाति, समाज के कारण बहुत भिन्न व परिवर्तनीय है, इसलिए उसका सही विश्लेषण कठिन है तथापि कुछ सामान्य तत्व हैं जो उसे धर्म की संज्ञा देते हैं। डॉ. डी. एम. एडवर्ड ने कहा है कि यदि धर्म का निश्चित रूप इन विकासों व परिस्थितियों में स्थिर न होता तो 'धर्म' शब्द का, निर्दिष्ट करने योग्य कोई अर्थ भी न होता। धर्म का अर्थ विभिन्न समय व स्थान पर विभिन्न रूप में लिया जाता रहा है, इसीलिए धर्म के सम्बन्ध में अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध हैं। सामान्य अर्थ में धर्म एक विश्वास, एक भावना और संकल्प की व्यावहारिक क्रिया है। दूसरे शब्दों में धर्म भावना, बुद्धि व क्रिया का समुच्चय है। कुछ दार्शनिकों के मत, परिभाषा के रूप में निम्न हैं—

धर्म की परिभाषा

इ.वी. टायलर—"धर्म आध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास है।"

मैक्समूलर—"धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जो मनुष्य को अनन्त सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम बनाती है।"

कान्ट के अनुसार—"दैवी आदेश के रूप में कर्त्तव्यों की स्वीकृति ही धर्म है।"

श्लायरमारवर—"ईश्वर पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने की भावना में ही धर्म का तत्व निहित है।"

फिलन्ट—"धर्म मनुष्य का, ऐसी सत्ता या सत्ताओं में विश्वास है जो उससे शक्तिशाली और इन्द्रियातीत है, परन्तु वह उसके स्थायी भावों तथा क्रियाओं के प्रति उदासीन नहीं है।"

गैलवे के अनुसार—"अपने से परे शक्ति में, मनुष्य का वह विश्वास धर्म है, जिसके द्वारा वह अपनी भावनाओं की संतुष्टि और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह पूजा एवं सेवा के माध्यम से प्रकट करता है।"

संगीत तथा धर्म का सम्बन्ध

संगीत एक कला है और कला तथा धर्म का अटूट सम्बन्ध सर्वथा मान्य है। मानव जीवन के तीन आदर्श सत्य, शिव तथा सुन्दर धर्म के भी तीन स्तम्भ हैं। कला इन्हीं में से सुन्दर को मूर्त रूप प्रदान करती है। मानव में निहित चित् शक्ति ही रंगों द्वारा चित्रों में मूर्तियों द्वारा आकार ग्रहण करती है, वही शब्दों (ध्वनि) के माध्यम से संगीत का रूप लेती है। अतः कला में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ऐन्द्रिक साधनों द्वारा होती है। यहाँ हीगल का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि कला आध्यात्मिकता एवं ऐन्द्रिकता का विवाह है। अतः दोनों में सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। मूर्तियों (मूर्तिपूजा), ईश्वरीय चरित्रों के चित्र तथा उसके कार्यों, लीलाओं से सम्बन्धित पद, उनका गायन आदि धर्म को सम्बल प्रदान करते हैं। कला धर्म को प्रभावशाली बनाती है। उपासना-आराधना में विभिन्न कलाएँ मनुष्य को सहायता प्रदान करती हैं। दूसरी ओर धर्म कला की रक्षा करता है, उसे परिमार्जित कर उच्चता प्रदान करता है। जब-जब भारत पर दूसरी जातियों के आक्रमण हुए, उन्होंने हमारी संस्कृति व कलाओं को नष्ट करना चाहा तो धर्म ने (धार्मिक नेता तथा धार्मिक स्थलों) उन्हें प्रश्रय देकर बचाए रखा। हवेली संगीत के रूप में मुगलों के चंगुल से बचकर काव्य व संगीत अपने उसी प्रचलित रूप में (ध्रुवपद धमार शैली) मन्दिरों में ही सुरक्षित रह पाया। इसी प्रकार जब-जब कलाएँ पतनोन्मुख हुईं, उन पर अनैतिकता का प्रभाव पड़ा, धर्म-प्रभाव के कारण ही वे अपना परिष्कृत व उज्ज्वल रूप बनाए रखने में समर्थ हुईं। अतः कला व धर्म दोनों एक दूसरे की सहायता से पुष्ट व उन्नत होते हैं।

विभिन्न कलाओं की तरह संगीत भी धर्म से सदा जुड़ा रहा। वैदिक काल से आज तक संगीत व धर्म का यह सम्बन्ध बराबर बना रहा है। जिस प्रकार संगीत दो रूपों में—शास्त्रीय तथा लोक संगीत—रहा, उसी प्रकार संगीत द्विधारा में बहता आ रहा है—अलौकिक संगीत (धर्म प्रधान) व लौकिक संगीत। स्वयं भगवान शंकर और ब्रह्मा से लेकर भरत, मतंग,

नारद आदि ने संगीत को अध्यात्म की सहयोगिनी बनाकर रखा। प्राचीन ऋषि मुनि अपने आराध्यदेव की, स्थिर व तल्लीन हो संगीत द्वारा आध्यात्मिक अलौकिक उपासना करते थे। दूसरी ओर इन्द्र आदि देवताओं के दरबार में गायन वादन, नृत्य का आयोजन मनोरंजन हेतु चलता था। अप्सराओं द्वारा संगीत का प्रयोग करा ऋषियों की तपस्या भंग करने के प्रयास भी किये जाते थे। इस प्रकार के संगीत पूर्णत: लौकिक थे। वैदिक काल से लेकर आज तक के कुछ प्रमुख कालों (ऐतिहासिक) में संगीत तथा धर्म का क्या सम्बन्ध रहा, इसका संक्षेप में हम उल्लेख करेंगे।

विभिन्न कालों में धर्म तथा संगीत

वैदिक काल में संगीत व धर्म परस्पर सम्बन्धित थे। इन्द्र, वायु, अग्नि, जल, वरुण आदि अनेक देवता थे, जिनकी उपासना करने तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो साधन थे, वे थे मंत्र तथा तांत्रिक। ये मंत्र संगीतमय (गेय रूप) रूप में पठित थे। इन मंत्रों के संकलन वेद हैं और सामवेद पूर्णत: संगीतमय है। अनेक ऋचाओं में देवताओं की प्रशंसा, उनके महात्म्य का वर्णन, पितातुल्य वात्सल्य प्रेम की मांग आदि देखने को मिलता है। इन देवताओं की पूजा अर्चना में भक्ति का भाव दिखाई देता है—

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहरथो दिव्य: स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा: बहुधा वदंत्याग्नि यमं मातरिश्वानमाहु: ॥

इसी प्रकार ऋगवेद के प्रसिद्ध मंत्र में भगवान विष्णु के नामसंकीर्तन का उल्लेख मिलता है—

तमुस्तोतार: पूर्व्यं यथाविद् ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानंतो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥

इसी प्रकार वैदिक काल के अन्य ग्रन्थ उपनिषद, ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति आदि प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक ग्रन्थ न होकर दर्शन हैं, तथापि उनमें देवताओं की उपासना-अर्चना का सम्बन्ध गेय मंत्रों से रहा है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है—

वीणावादनतत्वज्ञ: श्रुतिजातिविषारद:।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥

इसी प्रकार नारद के भक्तिसूत्र में कहा गया है—

संकीर्त्यमान: शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभवयति च भक्तान्।

तत्पश्चात् महाभारत तथा रामायण काल में धर्म व संगीत का सम्बन्ध परस्पर बना रहा। गीता के समय से भक्ति मार्ग को एक स्पष्ट व स्वतंत्र

स्वरूप प्राप्त हुआ, यह कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण ने अपने को (भगवान) प्राप्त करने व मोक्ष प्राप्ति का सरलतम उपाय भक्ति, संकीर्तन को बताया। कृष्ण ने अनेक स्थानों पर (गीता में) भक्ति व कीर्तन शब्दों का प्रयोग किया है।

पौराणिक काल में भक्ति व कीर्तन को बहुत महत्व दिया गया। विष्णु-पुराण में कहा गया है कि "जिस प्रकार अग्नि से स्वर्णादि धातुओं के मल का नाश होता है, उसी प्रकार भक्तिपूर्वक किया हुआ भगवत् कीर्तन सभी पातकों का नाश करने का उत्तम साधन है।" इसी प्रकार गरुड़ पुराण में कीर्तन का महत्व इस प्रकार बताया गया है—

यदिच्छसि परं ज्ञानं ज्ञानाच्च परमं पदम्।
तदा यत्नेन महता कुरु गोविंदकीर्तनम्॥

अर्थात् आत्मज्ञान तथा आत्मज्ञान से परम-पद पाने के लिए गोविन्द का कीर्तन करो।

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति के सांग में 'श्रवण कीर्तनं .... निवेदनम्' श्रवण कीर्तन को वरीयता प्रदान की गयी है। पुराणों में तो यहां तक कहा गया है कि—

विलज्जते उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

अर्थात् जो लज्जा छोड़कर उच्च स्वरों में गान करता है, नृत्य करने लगता है, ऐसा भक्त समस्त लोकों को पवित्र करता है। यह धर्म व संगीत के सम्बन्ध की चरम सीमा कही जा सकती है।

इसी समय पनप रहे बौद्ध व जैन धर्म में भी संगीत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। बौद्ध मन्दिरों में गायी जाने वाली स्तुतियां संगीतमय थीं। अनेक बौद्ध ग्रन्थों में इस सम्बन्ध को चित्रित करने वाले अंश प्राप्त होते हैं, जैसे— गुत्तिल द्वारा इन्द्र की स्तुति करना, अश्वघोष द्वारा रचित स्तुतियाँ, पंचशिख द्वारा वीणा के साथ इन्द्र की स्तुति आदि। बौद्ध धर्म की महायान शाखा पर भक्ति का अधिक प्रभाव था। बुद्ध के सिद्धान्तों को गीतों की लड़ियों में पिरोकर उन्हें सुन्दर ढंग से गाया जाता था। इसी प्रकार जैन धर्म में अनेक राजस्थानी लोक गीतों तथा अन्य लोक गीतों की धुनों पर आधारित गीत मिलते हैं।

मुगल काल से पूर्व (7वीं से 10-11 वीं शताब्दी) शंकर भक्ति, विष्णु भक्ति की प्रबलता के कारण संगीत का घनिष्ट सम्बन्ध धर्म से रहा। विष्णु-भक्त दिव्य प्रबन्धों की विपुल रचनाओं के संगीतबद्ध गान का प्रसार कर रहे थे। विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों ने इस सम्बन्ध को और मजबूत किया।

वैष्णवों में रासलीला व राधाकृष्ण केलि प्रमुख आधार थे। इसमें गान व नृत्य को महत्व प्राप्त था। जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' का इस ओर बहुत योगदान रहा।

मुगलों के आक्रमण (11 वीं शताब्दी) से मुगल काल में संगीत पर प्रभाव पड़ा। परन्तु संगीत का, धर्म व ईश्वर से सम्बन्ध वे तोड़ नहीं पाये। संगीत ने नया रूप लिया पर यह सम्बन्ध फिर भी बना रहा। विद्यापति ने राधाकृष्ण की प्रेम लीला की रचनाओं द्वारा, रामानन्द, धन्ना जाट, रैदास, भक्त नरसिंह, वल्लभाचार्य, कुंभनदास, स्वामी हरिदास, राधावल्लभीय द्वारा रासलीला का आरम्भ, विट्ठलनाथजी, सूरदास, नंददास, मीरा आदि ने अपने संगीतमय पदों द्वारा संगीत व धर्म को इतना मजबूती से जोड़ा जो आज तक चला आ रहा है।

शास्त्रीय संगीत तथा धर्म

ऊपर हमने संगीत तथा धर्म के सम्बन्ध का विश्लेषण ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में किया। यहाँ हम संगीत के शास्त्रीय पक्ष का धर्म से किस प्रकार सम्बन्ध है, इसका विश्लेषण करेंगे। संगीत के अनेक पहलू—गायन, वादन, नृत्य, रचनाएँ, तालें, वाद्य, राग आदि किस प्रकार धर्म से प्रभावित हैं ? इसका उल्लेख करना भी आवश्यक है। शास्त्रीय संगीत व धर्म का परस्पर सम्बन्ध हम निम्न रूपों में पाते हैं—

(1) **उत्पत्ति** – संगीत की विभिन्न विधाओं की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गयी है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(i) संगीत की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गयी है। ब्रह्मा ने शिव को तथा शिव ने सरस्वती को यह विद्या दी। सरस्वती को आज भी संगीत तथा विद्या की अधिष्ठात्री के रूप में पूजा जाता है।

(ii) संगीत के आधार 'राग' भी शिव तथा पार्वती द्वारा उत्पादित माने गये हैं। शिव के पंचमुखों से भैरव, हिण्डोल, मेघ, दीपक तथा श्री रागों की उत्पत्ति हुई तथा पार्वती के मुख से कौशिक राग की।

(iii) भगवान शंकर के डमरू की ध्वनि से जहाँ पाणिनी के 14 सूत्रों का सूत्रपात हुआ, वहीं संगीत का प्रादुर्भाव हुआ।

रुद्रडमरुद्भव..........सूत्र के अनुसार अ, इ, उ में क्रमशः सा रे ग की, ए ओङ् से म प की तथा ऐ औच् से ध नि स्वरों का प्राकट्य हुआ। ऋ ऌ नपुंसक स्वर हैं जो काकली तथा अन्तर के सूचक हैं। ह य व र ट आदि शेष 10 सूत्रों के व्यंजन तालोत्पत्ति कारक हैं।

(iv) नृत्य का जनक भी शिव-पार्वती को माना जाता है। शिव का ताण्डव नृत्य तथा पार्वती का लास्य नृत्य सभी नृत्यों की जननी है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण बंशी (मुरली) तथा रास नृत्य के प्रणेता थे।

संगीत में देवी-देवताओं का महत्व

संगीत की कोई भी विधा हो, गायन, वादन, नृत्य तीनों देवी-देवताओं के नामों से जुड़ी हैं। कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(i) वाद्यों के विभिन्न प्रकारों में ये नाम उपलब्ध हैं। तार वाद्यों में रुद्र वीणा, सरस्वती वीणा, दत्तात्रेय वीणा, ब्रह्म वीणा, ऐन्द्री वीणा, किन्नरी वीणा आदि। इसी प्रकार तालों में भी रुद्रताल, ब्रह्मताल आदि हैं।

(ii) शास्त्रीय नृत्य, चाहे भरतनाट्यम हो अथवा कथक अथवा कुचीपुड़ी या मणिपुरी सभी का विषय कृष्ण लीला, राधा कृष्ण, कृष्ण गोपी अथवा शिव आदि होते हैं। भरतनाट्यम तो प्राय: कृति पर किया जाता है जो सर्वथा भक्ति रचना होती है।

(iii) प्रबन्धों की रचना के विषय भी ईश्वर या धार्मिकता से सम्बन्धित होते हैं। ध्रुवपद में अधिकांशत: शिव प्रमुख विषय है, फिर देवी, गणेश आदि भी हैं। धमार में कृष्ण, राधा विशेष हैं तो ख्याल में राधा, कृष्ण, राम से सम्बन्धित रचनाएँ हैं तो कहीं अध्यात्म की ओर उन्मुख ईश्वर को याद करने की सलाह, जीवन की तथा नाते-रिश्तों की असारता का वर्णन है।

शास्त्रीय प्रबन्ध

सर्वाधिक प्राचीन तथा संगीत की उच्च श्रेणी का प्रबन्ध है ध्रुवपद। इसका प्राचीन रूप धृवा, ध्रुवा आदि रहा जो प्रमुख रूप से मन्दिरों में ही गाया जाता था। आधुनिक ध्रुवपद रूप धारण करने पर जहाँ एक ओर मुगलों के प्रभाव से राजाओ की प्रशंसा में गाया जाता था वहीं दूसरी ओर ईश्वर स्तुति रूप में मन्दिरों में था। सूर, नन्ददास, छीतस्वामी आदि अष्ठ-छाप कवियों तथा हरिदास द्वारा भक्तिमय ध्रुवपद ही गाये जाते थे।

दक्षिणात्य संगीत में प्रमुख रचना कृति है। त्याग राग दिक्षीतार आदि त्रिमूर्ति की कृतियाँ भक्तिमय ही हैं। ये कृतियाँ ही वहां के शास्त्रीय गायन तथा नृत्य का आधार हैं।

राग तथा देवी-देवता

एक ओर जहाँ रागों के नाम हमें भैरव, भैरवी, शंकरा, नारायणी,

गौरी आदि देवताओं के नामों पर मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर रागध्यान परम्परा व रागों के चित्रांकन में भी देवताओं को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैसे भैरव के रागध्यान को देखिये—

गंगाधरः शशिकला तिलकस्त्रिनेत्रः।
सर्पैर्विभूषिततनुर्गजकृत्तिवासः॥
भास्वत् त्रिशूलकर एव नृमुंडधारी।
शुभ्राम्बरो जयति भैरव आदिरागः॥

इसी प्रकार भैरवी का ध्यान निम्न है—

सरोवरस्थे स्फटिकस्य मण्डपे सरोरुहैः शंकरमर्चयन्ती।
तालप्रभेदप्रतिपन्नगीता गौरीतनुर्नाम हि भैरवीयम्॥

इस प्रकार के ध्यान तथा रागों के चित्रांकन में भी देवी-देवताओं का उल्लेख व चित्रण मिलता है।

(v) हिन्दू धर्म के प्रमुख ग्रन्थ रामायण, गीता आदि संगीतमय हैं। पद्य रूप में होने के कारण वे गेय हैं।

स्पष्ट है कि संगीत का सम्बन्ध हर काल, परिस्थिति में धर्म से रहा। धर्म का कोई भी पंथ हो, सम्प्रदाय हो—शैवमत, वैष्णव मत, देवी मत, राधास्वामी मत, कृष्ण मत, ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, सगुण भक्ति, निर्गुण भक्ति, मूर्ति पूजा अथवा आर्य समाज, बौद्ध, जैन, सिख, मुसलमान कोई भी धर्म हो, संगीत का, सभी में धार्मिक महत्व है। हिन्दू भजन व आरतियाँ गाते हैं तो जैन लोग भी भजन गाते हैं, सिख गुरुवाणियों का गान करते हैं तो मुसलमान कव्वाली गाते हैं। सभी उस एक शक्ति की आराधना गाकर करते हैं। यही भक्ति मार्ग सरलतम मार्ग है। कहा भी है—

पूजाकोटिगुणं स्तोत्रं स्तोत्रान्कोटिगुणो जपः।
जपात्कोटिगुणं गानं गानात्परतरं नहि॥

अतः गान से बढ़कर उपासना का कोई अन्य साधन नहीं है। संगीत का आधार जो कि नाद है, उसकी उपासना, साधना से सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं, समस्त जगत नाद के अधीन है व नादमय है। इसलिए नादोपासना को श्रेष्ठ माना है—

नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥

संगीत में असीम सामर्थ्य है, जिसके द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध कर मन व आत्मा को पवित्र बनाया जा सकता है। नादोपासना योग मानी जाती है और योग आत्म प्राप्ति अथवा मोक्ष का एक मार्ग है। सम्पूर्ण जगत,

प्रकृति, यहां तक की ईश्वर भी नाद रूप है। इसीलिए ईश्वर वहीं निवास करता है, जहां उसका गान होता है—

नाहं वसामि बैकुण्ठे योगिनां हृदयेनच।
मदभक्ता: यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

इस बात की पुष्टि अनेक ऋषि मुनि तथा भक्तजनों की जीवनी से होती है। चैतन्यमहाप्रभु, हरिदास, त्यागराज, विट्ठलदास, वल्लभाचार्य, सूर, तुलसी, मीरा आदि सभी भक्ति संगीत की गंगा में गोते लगाते थे व ईश्वर-साक्षात्कार रूपी मोती पाते थे। आज भी भक्ति संगीत के रूप में भजन-कीर्तन, आरती आदि प्रचलित हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष सहर्ष ही निकाला जा सकता है कि संगीत तथा धर्म न कभी अलग थे, न है, न होंगे। न धर्म (कोई भी धर्म, मत, सम्प्रदाय) संगीत के बिना रहा है, न संगीत धर्म व ईश्वर विहीन रहा। शरत्‌चंद्र परांजपे का यह कथन उपयुक्त है—"संगीत कला का उद्‌भव भले ही मानव की सहज भावना एवं अदम्य प्रेरणाओं के अभ्यंतर हुआ हो, उसका विकास तथा लालन-पालन धर्म के क्रोड़ में हुआ है।" आवश्यकता पड़ने पर संगीत ने हिन्दू धर्म व सभ्यता को बचाया है तो समय आने पर हिन्दू धर्म ने भारतीय संगीत को प्रश्रय देकर बचाया। दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

अध्याय 14

संगीत का महत्व एवं कार्य

यों तो हर कला का मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है तथापि संगीत इस क्षेत्र में सबसे अग्रणी है। मानव जीवन ही क्या, सम्पूर्ण प्रकृति संगीत से प्रभावित है। संगीत का हमारे जीवन में कितना महत्वपूर्ण स्थान है अथवा संगीत हमारे जीवन में क्या कार्य व सहायता करता है इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। मानव जीवन का हर पहलू, हर समय संगीतमय है। केवल हर्ष-उल्लास के समय ही नहीं वरन् मृत्यु जैसे शोक में भी संगीत का स्थान है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पूर्ण जीवन संगीत से सजा संवरा रहता है। प्रत्येक समय, पर्व, परिस्थिति, स्थान के अनुसार सांगीतिक विभिन्नता होती है, पर संगीत के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। संगीत से हमारे जीवन के कौनसे प्रयोजन सिद्ध होते हैं, वह किस प्रकार हमारे लिए उपयोगी है तथा किस तरह हमारा जीवन संगीत का ऋणी है? इन्हीं बातों पर यहाँ हम चर्चा करेंगे। संगीत का महत्व अथवा उसके कार्य व उपयोगिता निम्न बिन्दुओं में देख सकते हैं। इन बिन्दुओं से सम्बन्धित कुछ चर्चा पिछले अध्यायों में कर चुके हैं, अतः यहां हम संक्षिप्त में केवल बिन्दुओं का उल्लेख करेंगे।

(1) संगीत ईश्वर प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार तथा ईश्वरोपासना का सरलतम तथा प्रभावकारी साधन है। भक्ति संगीत के रूप में यह हमारा सहायक है।

(2) 'नाद साधना' योग की प्रथम सीढ़ी (प्राणायाम, ध्यान) है। योग मोक्ष प्राप्ति तथा आत्म-दर्शन का एक मार्ग है।

(3) संगीत का प्रभाव भारत में इतना अधिक है कि दर्शन जैसा गूढ़ व गम्भीर विषय भी अपने को संगीत से अछूता नहीं रख सका। वेद, उपनिषद, गीता आदि काव्य रूप में होने के कारण गेय (संगीतमय) हैं। इसी प्रकार कृष्ण की सांख्यकारिका, सुरेश्वराचार्य की नैश्कर्म्य सिद्धि, पंचदशी आदि दर्शन ग्रन्थों में राग व काव्य का अपूर्व सौन्दर्यमय संगम है। संगीत से यह सरल तथा रोचक बनते हैं।

(4) संगीत संस्कृति का दर्पण होता है। लोक संगीत द्वारा, विभिन्न देशों की, एक ही देश के विभिन्न स्थानों की लोक संस्कृति की झाँकी, हम देख सकते हैं। ऐतिहासिक प्रसंग, भौगोलिक स्थिति (वहाँ के मौसम, पैदावार) पारिवारिक स्थिति, उत्सव-त्यौहार, वहाँ के प्रचलित रीति-रिवाज सभी का दर्शन संगीत के माध्यम से किया जा सकता है।

(5) जन्म से लेकर मृत्यु तक 16 संस्कार, 12 महीनों के पर्व, त्यौहार, कोई ऐसा मौका नहीं होता जो संगीत की स्वर-लहरी से वंचित हो। चाहे अनपढ़ हो, बड़ा शहर हो अथवा गाँव, पिछड़ी बस्ती हो अथवा आदिवासी जाति, परन्तु अपनी-अपनी समझ व प्रथाओं के अनुकूल स्वर-लहरी हर जगह गूँजती है।

(6) संगीत का एक महत्वपूर्ण कार्य है नाटक को प्रभावशाली तथा भाव-संप्रेषण में सक्षम बनाना। इस उपयोगिता के कारण ही भरत ने संगीत को "नाटक की शैया" कहा है। चल रहे दृश्य में वास्तविकता लाना, उस दृश्य को स्वाभाविक रूप देना, उसके अनुकूल वातावरण बनाना तथा भाव को और अधिक सशक्त करके दृश्य में सौन्दर्य लाने में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। किसी युद्ध के दृश्य में कोलाहल के साथ नगाड़े, बिगुल, तूर्य आदि का वादन कर, दृश्य को साकार रूप प्रदान किया जाता है।

(7) कोई भी काल, स्थान रहा हो, संगीत का एक महत्वपूर्ण कार्य है मनोरंजन करना। चाहे इन्द्र की सभा हो, वैदिक काल हो, राजा महा-राजाओं का दरबार हो, मुगलों के बादशाही महल हों, आम प्रजा हो अथवा जनता, सभी के मनोरंजन का प्रमुख साधन संगीत रहा है। यह संगीत विविध रूपों में हो सकता है—लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत, वाद्य संगीत, विभिन्न प्रकार के नृत्य, फिल्म संगीत अथवा पाश्चात्य संगीत। अपनी रुचि के अनुसार व्यक्ति किसी से भी मनोरंजन कर सकता है।

(8) संगीत मनुष्य को मानसिक तनाव तथा दुख से भी छुटकारा दिलाता है। अन्य कलाएँ ऐसी हैं कि व्यक्ति हर समय, हर स्थान पर न तो बनाकर, न देखकर उसका उपयोग कर सकता है। पर संगीत में यदि कोई गाना या नाचना जानता है तो उसका उपयोग किसी भी स्थान, समय पर गुनगुना कर कर सकता है। न सीखा हुआ होने पर भी आदमी गुनगुनाता है इसलिए कहा भी है कि गाना रोना हर एक को आता है। स्वयं न गाये तो रेडियो, टेप, रिकार्डप्लेयर ऐसे साधन हैं जिनसे सुनकर किसी भी समय व स्थान पर वह मानसिक तनाव या दुख को भूल जाता है।

(9) संगीत मानव जीवन में स्फूर्ति पैदा करता है। परिश्रम करते समय संगीत का प्रयोग (स्वयं गाना या सुनना) कार्य की कठिनता व श्रम को सरल बना देता है। कार्य कब और किस प्रकार, बिना थकान व बिना ऊब के समाप्त हो जाता है, इसका भान कार्य समाप्ति पर ही होता है।

(10) संगीत जीवन में उल्लास तथा सरसता बनाए रखता है। सीमा पर तैनात सैनिकों के चारों ओर सुनसान, पहाड़ अथवा जंगल अथवा रेत के मैदान होते हैं। उनकी टुकड़ियों के अतिरिक्त वहाँ दूसरे लोगों से मिलना नहीं होता। समाज, परिवार से कटे, दूर रहने वाले इन सैनिकों के जीवन में आशा, उल्लास तथा मस्ती का संचार संगीत ही करता है। रेडियो द्वारा फिल्मी गीत, स्वयं गाना-नाचना, विभिन्न भाषी व प्रदेश के होने के कारण अपने-अपने स्थान का संगीत (गाना नाचना) सुनना-सुनाना ही उनके जीवन में सरसता भरता है।

(11) संगीत द्वारा भावों की अभिव्यक्ति कर व्यक्ति दूसरों तक अपनी बात पहुंचाता है। स्वयं आनंदित हो दूसरों को भी आनंदित करता है।

(12) संगीत का एक महत्वपूर्ण कार्य अथवा उपयोग है, भावों के एकीकरण में। संगीत ही ऐसी कला है जिसके द्वारा विभिन्न स्थानों व लोगों में भावों का एकीकरण संभव होता है। राष्ट्रगीत, मार्चधुन, देशभक्ति के गीत, भजन, आरती, आदि अपने अनुकूल भावों को समान रूप से एकीकृत करने में सक्षम है। जब-जब देश पर आक्रमण हो अथवा 26 जनवरी, 15 अगस्त आदि अवसरों पर बजने वाले राष्ट्रीय गीतों से हर स्थान, जाति व सम्प्रदाय के लोगों में देशप्रेम की भावना ही पैदा होती है।

(13) संगीत का महत्व हमारे जीवन में तब और भी बढ़ जाता है जब यह मनुष्य में नैतिकता, अनुशासन, प्रेम, दया, सौहार्द की भावना पैदा करता है। प्लैटो ने कहा है कि "संगीत से व्यक्ति में धर्म की प्रवृत्ति आ जाती है। वह व्यक्ति कभी अन्याय नहीं कर सकता जो कि संगीत की मधुर स्वरलहरियों में बंधा होता है। संगीत चरित्र को ढालता है।"

(14) संगीत मनुष्य में आत्मविश्वास पैदा करता है। अन्य कलाओं में व्यक्ति एकांत में अपनी कृति तैयार करता है परन्तु संगीत ही एक ऐसी कला है जिसमें कलाकार को श्रोताओं व दर्शकों के समक्ष ही अपनी कृति बनानी व पेश करनी होती है। इस क्रिया से व्यक्ति में आत्मविश्वास पैदा होता है।

(15) संगीत से अनुशासन व एकता की भावना बलवती होती है। समूहगान, समूहनृत्य द्वारा एकता व अनुशासन सीखते हैं। प्रान्तीयता, भाषा-भेद, जाति, धर्म सभी से ऊपर उठकर संगीत सबको एक करता है।

विभिन्न प्रान्तों, विभिन्न देशों में एकता व साहचर्य बढ़ाने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम (गायन, वादन, नृत्य आदि) किए जाते हैं ।

(16) आजकल संगीत की उपयोगिता मानसिक चिकित्सा में भी बढ़ रही है । 'म्यूजिकल थैरेपी' द्वारा इलाज किया जाता है ।

(17) आधुनिक समय में शिक्षा के क्षेत्र में संगीत का महत्व स्वीकार किया गया है । छोटे-छोटे बच्चों की शिक्षा में, उन्हें आकर्षित करने तथा सरल रूप में सिखाने के लिए संगीत (गीत, कविता आदि गेय रूप) का प्रयोग किया जाता है । इसके माध्यम से पढ़ाई को रुचिकर, सीखने व याद करने में सरल बनाया जाता है ।

(18) संगीत द्वारा सूक्ष्म बुद्धि का विकास तथा ध्यान की एकाग्रता की शक्ति बढ़ती है । जरा से स्वर भेद से, अथवा समान स्वरावली में वादी-संवादी भेद से जब राग बदलता है तब उसकी पहचान करना, उसे सीखना व समुचित भेद के साथ उनकी प्रस्तुति करना सूक्ष्म तथा तीव्र बुद्धि का विकास करता है ।

उपरोक्त समस्त तथ्यों व उदाहरणों से स्पष्ट है कि संगीत एक ऐसी कला है जिससे धर्म, दर्शन, समाज, राष्ट्र, नैतिक, मानसिक, शारीरिक; मानव जीवन का कोई भी पहलू हो, प्रभावित है । हर क्षेत्र में संगीत का अपना उपयोग व महत्व है । मानव जीवन में संगीत का जितना हस्तक्षेप व प्रभाव है उसे नकारा नहीं जा सकता । कान्ट ने संगीत को 'Language of affection' कहा है । सभी चाहते हैं कि आज के परमाणु युग में विविध देशों में प्रेम, सद्भाव व सौहार्द रहे । इसमें संगीत का बहुत बड़ा योगदान है व और भी अधिक योगदान हो सकता है । हीगल ने कहा है "Music directly addresses the soul." अतः संगीत के प्रयोग से प्रेम की ओर लोगों को अधिकाधिक प्रेरित किया जा सकता है । मनुष्य जीवन में संगीत इतना रचा-बसा है कि उसके बिना जीवन की कल्पना आज असम्भव प्रतीत होती है । संगीत बिना, जीवन नीरस व बोझिल है । मनुष्य जीवन के पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को संगीत ने हर काल में सिद्ध किया है । अतः संगीत का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण ही नहीं वरन् आवश्यक स्थान है ।

अध्याय 15

संगीत और श्रोता

कला का एक उद्देश्य है संप्रेषण। हर कलाकार अपनी कृति को दूसरों के सम्मुख पेश करता है। उद्देश्य चाहे यशप्राप्ति हो, अर्थप्राप्ति हो, आत्म-सन्तोष प्राप्ति हो अथवा दूसरों को आनन्दित या लाभान्वित करना हो, परन्तु यह कटु सत्य है कि वह उसका प्रदर्शन करता है। दूसरों के द्वारा सराहे जाने में कला की सार्थकता व सफलता निहित है, तो दूसरों द्वारा सही समालोचना से उसमें उन्नति तथा निखार आना भी सम्भव होता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि संगीत में कृति उसी समय तैयार होती जाती है व प्रस्तुति भी होती जाती है। इसलिए भारतीय संगीत को Occurrent अथवा सामने घटित होने वाली कला कहा जाता है।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की उपस्थिति में कोई भी कार्य किया जाय तो उसकी (कलाकार) या कार्यकर्त्ता की स्वतंत्रता पर अंकुश लगता है, घबराहट व मानसिक दबाव भी महसूस होता है, क्योंकि दर्शक अथवा श्रोता के चेहरे के भाव, उसकी प्रतिक्रिया, कर्त्ता को प्रभावित करती है। संगीत में चूंकि कृति श्रोताओं के समक्ष तैयार की जाती है अतः गायक, वादक का श्रोता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध बनता है। श्रोता का दाद देना, वाह-वाह करना अथवा मुँह बनाना, सभा में नींद लेना अथवा बातचीत करना ऐसी क्रियाएँ हैं जो कलाकार के मानस व मनोबल को तुरन्त प्रभावित करती हैं। अतः श्रोताओं का संगीत में क्या महत्व है, उनका आचरण कैसा हो, उनमें किन गुणों का होना आवश्यक है ? आदि का विवेचन यहां करेंगे।

कलाकार तथा श्रोता

संगीत की कोई भी विधा हो, गायन, वादन, नृत्य, इनमें कलाकार तथा श्रोता व दर्शक दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। किसी भी संगीत कार्यक्रम की सफलता जितनी कलाकार की कुशलता, ज्ञान व अभ्यास पर निर्भर करती है उतनी ही श्रोताओं के आचरण तथा सहयोग पर। कलाकार यदि यश प्राप्ति के लिए कार्यक्रम करता है तब भी श्रोता का सहयोग जरूरी है। यदि श्रोता

शान्ति व धैर्य से सुनेगा नहीं तो उसे कलाकार की कुशलता तथा योग्यता का भान नहीं होगा और प्रशंसा के अभाव में यश प्राप्ति असम्भव है। भलीभांति सुने बिना श्रोता प्रभावित नहीं होता। संगीत के कलाकार को यश, श्रोताओं की प्रशंसा से मिलता है। इसी प्रकार अर्थ प्राप्ति की दृष्टि से, जिसे श्रोता पसन्द करते हैं, उसी के कार्यक्रम होते हैं और बिकते हैं। इसलिए कलाकार अधिकाधिक सौन्दर्यात्मक अनुभव श्रोताओं को देने का प्रयास करता है।

सौन्दर्य बोध के लिए कलाकार तथा श्रोता दोनों के लिए भिन्न सिद्धान्त होते हैं—

(1) कलाकार के लिए—आंतरिक अनुभव जो भी कलाकार का होता है, उसका बाहरीकरण किया जाता है। कलाकार उसे दृष्टव्य अथवा श्रव्य विषय में बदलता है।

(2) श्रोताओं के मामले में इसके बिलकुल विपरीत क्रिया होती है। बाहरी अनुभव पहले होता है। सुनकर वह पहले बाह्येन्द्रियों से ग्रहण करता है, तब वह आन्तरिक अनुभव में बदलता है।

इस प्रकार सौन्दर्यात्मक अनुभव की क्रिया दोनों में होती है पर उसकी प्रक्रिया भिन्न होती है। कलाकार के लिए श्रोता का महत्व बहुत होता है, इसलिए वह भी श्रोता की रुचि, ज्ञान, समय आदि का ध्यान रखकर कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। वह श्रोताओं से तादात्म्य के लिए क्या-क्या प्रयास करता है, उसे हम निम्न रूपों में देख सकते हैं—

(1) वह श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखता है। जैसे कि, साधारण भीड़ में यदि कोई गायक शास्त्रीय गायन पेश करेगा तो बड़ा ख्याल व अधिक आलापचारी के स्थान पर छोटा ख्याल, ठुमरी अथवा तराने का उपयोग करेगा। सुगम संगीत के कार्यक्रमों में भी प्रायः प्रान्तीय भाषा, लोक संस्कृति आदि के अनुसार कार्यक्रम पेश किया जाता है, ताकि अधिक से अधिक श्रोता समझें व आनन्दित हों।

(2) श्रोताओं की संगीत सम्बन्धी समझ व ज्ञान का कलाकार को ध्यान रखना चाहिए। जिस स्तर के श्रोता हों, उसी के अनुसार सरल राग, ताल व सरल गायन शैली का प्रयोग करना चाहिए। क्लिष्ट तानें व स्वर समूह समझ में आए बिना आनन्ददायी प्रतीत नहीं होते। जानकार संगीतज्ञों के बीच उसे अपनी समस्त कलाकारी के प्रदर्शन का मौका मिलता है, तो यदि विद्यार्थियों के बीच दिये गये कार्यक्रम में उनके बुद्धिस्तर के अनुकूल ही प्रस्तुति हो, तभी समझ में आएगी। कलाकार कभी भी श्रोताओं के समक्ष एक रहस्यमय व्यक्ति के रूप में न रहकर वरन् उन्हें अपने साथ लेकर चलता

है। वह उन्हें अपने को समझने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

(3) कलाकार श्रोताओं से सहयोग प्राप्त करने के लिए मौके व समय का भी ध्यान रखता है। किसी विशेष पर्व पर जैसे होली, जन्म अष्टमी अथवा किसी संगीतज्ञ की जन्म-तिथि आदि के उपलक्ष्य में कार्यक्रम का आयोजन हो तो वह उससे सम्बन्धित रचना, जैसे धमार, कृष्ण से सम्बन्धित प्रबन्ध आदि गाता है जिससे समयानुकूल वातावरण तैयार होता है। इसी प्रकार श्रोताओं की मांग का भी स्वागत करता है।

(4) दीर्घ काल तक की गई साधना से गले में लोच, स्निग्धता आती है, उसकी प्रशंसा हो यह हर कलाकार चाहता है। वह कार्यक्रम के दौरान जिस प्रकार की स्वर-संगति अथवा मींड, गमक अथवा स्वर का लगाव, श्रोता पसन्द कर दाद देते हैं, उसकी वह पुनरावृत्ति करता है।

(5) कलाकार जब अपनी कला की प्रस्तुति करता है तो वह श्रोता को आनन्दित करने, झूमने की स्थिति में लाने की कोशिश करता है। यही उसकी कला की सफलता है। उसकी कला से जब श्रोता आनन्दित होते हैं तब उसमें नयी स्फूर्ति व जीवन का संचार होता है। उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती।

उपरोक्त प्रयास जब एक कलाकार अपनी कृति की सफलता के लिए करता है, तब उसे श्रोताओं से पूर्ण सहयोग की अपेक्षा रहती है। वह चाहता है कि श्रोता उसके सह-कार्यकर्ता के रूप में रहे। इसलिए श्रोताओं को अपनी भूमिका समझनी चाहिए और अपना महत्वपूर्ण स्थान ध्यान में रखते हुए कुछ बातों का पालन करना चाहिए। श्रोता को किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, सभा के कुछ नियम, मुख मुद्रा आदि बातों का ध्यान रखना चाहिए। इन्हें हम श्रोता के गुण कह सकते हैं।

श्रोता के गुण

किसी भी श्रोता में कुछ बातें, सभा के नियम, धैर्य आदि का पालन करने की आदत होगी तभी वह एक अच्छे श्रोता की श्रेणी में आ सकेगा। गायन वादन के कार्यक्रम को सफल बनाने में श्रोता के ये गुण बहुत ही सहयोगी सिद्ध होते हैं। अतः कुछ गुण हम निम्न बिन्दुओं के रूप में देख सकते हैं।

(1) **बुद्धि तत्व**—शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम में बुद्धि तत्व का विशेष महत्व होता है। सही राग पहचानना, ताल की समझ, गायक-वादक की कला की परख, बुद्धि बिना सम्भव नहीं। कलाकार की कुशलता, सीमाओं,

देशकाल आदि का ज्ञान भी बुद्धि के अभाव में व्यर्थ है। किसी भी कार्यक्रम में, यदि श्रोता बुद्धिमान होगा, तभी वह समझ में न आने अथवा समझ आने पर, अपने भावों को अथवा रोष खुशी को सही तरीके से पेश कर सकेगा।

(2) **कला तत्व**—श्रोता को प्रस्तुत कला (गायन वादन) के प्रारम्भिक सिद्धान्त व बातों जैसे—तान, मींड, तालों के नाम प्रकार, सम खाली अथवा स्वरों का ज्ञान होना चाहिए, तभी वह राग, रचना व प्रस्तुतीकरण को समझ सकेगा। अन्यथा जो जानकार नहीं होते वे तानों के लिए कहते हैं "गरारे कर रहे हैं" या वह सही समय पर प्रशंसात्मक क्रिया, दाद देना, झूमना अथवा सिर हिलाना नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार के श्रोता, कलाकार का हौसला पस्त करते हैं। कलाकार मूढ की तरह बैठे श्रोता को देखकर हतोत्साहित होते हैं। प्रस्तुतीकरण के समय श्रोता चार भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं से गुजरता है—

(अ) संवेदनात्मक स्थिति—इसमें सभी जानकार, भिज्ञ, अनभिज्ञ, सभी प्रकार के श्रोता केवल ध्वनि सुनते हैं।

(आ) भावात्मक स्थिति—वे श्रोता जो संगीत की भाषा समझते हैं, वे राग विशेष, ताल, लयकारी को समझ आनन्दित होते हैं। संगीत की थोड़ी-सी समझ रखने वाले भी इस स्थिति तक पहुँचते हैं।

(इ) कल्पना की एकात्मकता—जो संगीत सीखे हुए होते हैं, वही इस स्थिति तक पहुँचते हैं। इसमें श्रोता स्वयं पहले से कुछ कल्पना करता है। कभी कलाकार द्वारा किए गये नवीन प्रयोग को उत्कण्ठा से सुनता है तथा कलाकार की रचना से एकात्म स्थापित करने की चेष्टा करता है।

(ई) प्रतिक्रियात्मक स्थिति—श्रोता हमेशा कुछ नवीनता व सौन्दर्य चाहता है, यथा गायक कोई तिहाई ले, भिन्न प्रकार से मुखड़ा ले, कोई विशेष स्वर संगति, ताल से अठखेली करे। इस प्रकार के कार्यों से जानकार श्रोता आत्मविभोर हो प्रशंसासूचक हरकत करता है, जैसे वाह-वाह कहना, सिर को हिलाकर खुशी जाहिर करना आदि।

उपरोक्त चारों स्थिति में कला तत्व जिन श्रोताओं में होता है, वे चारों स्थिति में पहुंचते हैं व कला तत्व के ज्ञान विहीन श्रोता प्रथम दो स्थिति तक ही पहुंचते हैं, बाद की स्थिति में भी उन्हें कुछ समझ में नहीं आता, वे उसमें भी केवल ध्वनि व ताल का आनन्द ही लेते हैं।

(3) **सहृदयता**—यह तत्व किसी भी कला के दर्शक या श्रोता में होना जरूरी है। इसके अभाव में श्रोता रसास्वादन नहीं कर सकता। कला में

भावना का प्राधान्य होने के कारण, भावुक हृदय की मांग रहती है। भाव-शून्य हृदय में, ऊपर से सुनाकर भाव पैदा नहीं किए जा सकते। कला हमारे हृदय को स्पर्श करती है, अतः सहृदयी जल्दी प्रभावित होता है। सौन्दर्य बोध की स्थिति रागद्वेष रहित, निर्लिप्त व आत्मस्थ की स्थिति होती है और ऐसी स्थिति में सहृदयी ही पहुंचने की क्षमता रखता है। ऐसा व्यक्ति ही शब्दों में, आलोचना में नहीं खोता, वरन् आनन्द व भाव में खोता है और वही रसपान करता है। बुद्धि के द्वारा श्रोता कला के शरीर को, बाह्य रूप को समझता है, तो सहृदयता अथवा रागात्मकता द्वारा वह उसकी आत्मा या उसके प्रभाव या उससे प्राप्त असीम आनंद तक पहुंचता है। सहानुभूति, प्रेम दया, करुणा, त्याग की भावना से जिसका हृदय नहीं भरा हो वह संवेदन-शील नहीं हो सकता।

(4) **नैतिक गुण —**

एक अच्छे श्रोता में कुछ नैतिक गुण भी होने चाहिए तभी वह स्वयं आनंद उठा सकता है और कलाकार का सहयोगी बन सकता है। ये गुण निम्न हैं—

(i) श्रोता को पक्षपात रहित होना चाहिए, यह नहीं कि अपना रिश्ते-दार या जान-पहचान वाले का कार्यक्रम हो तो अनुचित प्रशंसा की जाय तथा विरोधी या किसी अपने Compititor का कार्यक्रम हो तो उसे हतोत्साहित करे। कार्यक्रम निष्पक्ष होकर सुनना व सराहना चाहिए।

(ii) ईर्ष्या से दूर रहे। कोई उभरता कलाकार भी यदि अच्छी प्रस्तुति करे तो उसकी खुले दिल से प्रशंसा की जाय न कि ईर्ष्यावश चुप साधलें या उसे नीचा दिखाने का प्रयास करें।

(iii) श्रोता में धैर्य होना बहुत जरूरी है। इसमें पूर्व तैयार कृति तो होती नहीं, जिसे पूर्ण रूप में देखा जा सके और तुरंत फैसला दिया जाय कि सुन्दर है या बुरी। बल्कि इसमें तो सौन्दर्य का आवरण धीरे-धीरे उठता है। कलाकार कब किस सौन्दर्य-बिन्दु को प्रस्तुत करे यह निश्चित नहीं होता अतः पूरी रचना धैर्य से सुनना जरूरी है।

(iv) श्रोताओं में गुणग्राह्यता का गुण भी होना चाहिए। गायक-वादक जो भी कलाकारी दिखाए उसमें नवीनता, सौन्दर्य बिन्दु अथवा किसी भी प्रकार की कलाकारी हो, उसे ग्रहण कर लेना चाहिए, चाहे वह अपने से निम्न स्तर का ही गायक वादक क्यों न हो। अच्छाई को ग्रहण करने व उसकी प्रशंसा करने की भावना श्रोता में होनी चाहिए।

(v) जो कलाकार नये हों अथवा प्रदर्शन की आरंभिक अवस्था में हों और अधिक कुशलता से प्रस्तुतिकरण न कर सकें तो भी श्रोताओं को उन्हें हौसला देना चाहिए। पहली बार कार्यक्रम प्रस्तुत करने में कुछ कमियां तथा आत्मविश्वास में कमी तो हर एक के साथ होती है। साथ ही नये कलाकार की गायकी की तुलना किसी भी कलाकार (संगीत में पारंगत) से नहीं करनी चाहिए। किसी भी बड़े कलाकार की कृति में धीरे-धीरे निखार आता है, उसमें आत्मविश्वास पैदा होता है और पिछली कमियों को दूर करने का प्रयत्न रहता है। अतः इस मामले में श्रोता के सहयोग की उसे बहुत आवश्यकता होती है। उसकी गायकी की जो अच्छाई हो उसे बताकर उसे हिम्मत व उत्साह दिलाया जा सकता है।

(5) **सामाजिक गुण**— किसी भी सभागोष्ठी अथवा कार्यक्रम में बैठने-सुनने का एक तरीका होता है, उसे हम सभागोष्ठी सभ्यता अथवा सभागोष्ठी नियम का नाम दे सकते हैं। जिस प्रकार समाज या परिवार में बड़ों के प्रति, बच्चों के प्रति, कर्तव्य आदि के नियम अथवा मानदण्ड होते हैं, जिससे व्यक्ति को हम सभ्य या असभ्य की संज्ञा देते हैं। उसी प्रकार किसी भी कार्यक्रम को सुनते समय श्रोता को कुछ नियमों का पालन करना चाहिए, जिससे कलाकार के ध्यान व प्रस्तुतिकरण में विघ्न न पड़े, वह अपने को अपमानित महसूस न करे आदि। इसके लिए उसे निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(i) श्रोता को कार्यक्रम प्रारम्भ होने से पूर्व अपना स्थान ग्रहण कर लेना चाहिए। चल रहे कार्यक्रम में बीच में आने से गायक, वादक, श्रोता सभी का ध्यान भंग होता है। कुछ लोग उसी समय नमस्कार, हाथ मिलाना आदि भी करने लग जाते हैं, जिससे बंधा हुआ समा टूट जाता है और सभी का ध्यान भंग होता है।

(ii) यदि विलम्ब से आ ही जाएँ तो आगे की पंक्तियों में न जाकर कोने की अथवा पीछे की सीट पर बैठ जाना चाहिए। आगे की ओर जाने से गायक-वादक की दृष्टि भी तुरन्त पड़ती है और पीछे बैठे समस्त श्रोताओं का एक बार ध्यान उस ओर जाता है।

(iii) शास्त्रीय संगीत आदि के कार्यक्रमों में ऐसे छोटे बच्चों को न ले जाएँ जो एक चित्त होकर सुन व बैठ नहीं सकते और कभी कुछ खाने-पीने की मांग करें अथवा रोएँ और फिर माता-पिता को उठकर बाहर जाना पड़े।

(iv) जिस समय कलाकार अपने साज मिला रहे हों, श्रोताओं को पूर्ण

शांति बनाए रखनी चाहिए ताकि उन्हें साज मिलाने में दिक्कत न हो व सही सही मिला सकें।

(v) जब तक एक गाना अथवा एक गत अथवा चल रहे कार्यक्रम का गीत या अंश पूरा न हो, बीच में से उठकर नहीं जाना चाहिए। इससे ध्यान भंग के साथ-साथ कलाकार का अपमान भी होता है। या तो गीत रचना आरम्भ होने से पहले उठ जाएँ अथवा उसके समाप्त होने व दूसरी के शुरु होने से पहले उठ जाएँ। जिससे कलाकार में हताशा पैदा न हो पाए।

(vi) कोई बात पसन्द न आने पर भी सभा में बैठे बैठे उसकी निंदा न करें, न आवश्यक बात करें, जिससे कलाकार यह महसूस करे कि मुझसे कुछ गलत हुआ अथवा लोगों को आनन्द नहीं आ रहा है।

(vii) कार्यक्रम के बीच-बीच में जब भी कोई तिहाई, सुन्दर मुखड़ा अथवा कोई स्वर-संगति पसन्द आए तो प्रशंसात्मक शब्द अवश्य बोलें, जिससे कलाकार में उत्साह बना रहता है और इस प्रकार की प्रतिक्रिया से वह यह समझता है कि श्रोता उसे ध्यान से सुन रहे हैं।

(viii) हर कार्यक्रम (अंश) के बाद ताली अवश्य बजानी चाहिए।

(ix) जिन श्रोताओं को शास्त्रीय संगीत में रुचि न हो अथवा कोई समझ न हो, उन्हें केवल सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण भीड़ बढ़ाने के लिए नहीं आना चाहिए। ऐसे ही श्रोता स्वयं तो सुनते नहीं, पास बैठे लोगों से भी बातें करते हैं और सभा नियमों का भी उल्लंघन करते हैं अथवा वे मूढ की तरह सपाट, भावहीन चेहरा लिए बैठे रहते हैं। ऐसे श्रोता पर कलाकार की दृष्टि पड़ने पर वह हताश होता है कि श्रोता को या तो समझ नहीं आ रहा है या आनन्द नहीं आ रहा है।

(x) कलाकार से श्रोता को ऐसी कोई फरमाइश (राग, गीत की) नहीं करनी चाहिए, जिसे वह तत्काल पूरी न कर सके। न ही श्रोता को उसे नीचा दिखाने या उसकी कमी सामने आए, इस भावना से प्रेरित होकर कोई फरमाइश करनी चाहिए।

(xi) कला व कलाकार के प्रति हमेशा आदर व सहानुभूति का भाव रखना चाहिए। केवल आलोचनात्मक दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

उपरोक्त बातों का यदि श्रोता पालन करे तो वह अवश्य एक सभ्य व अच्छे श्रोता की श्रेणी में जाना जाएगा और अच्छा श्रोता बनकर ही वह कलाकार के सह-कार्यकर्ता के रूप में अपना दायित्व निभा सकता है, क्योंकि संगीत में कलाकार व श्रोता दोनों का समान दायित्व, महत्व होता है। दोनों को एक दूसरे का ध्यान रखते हुए, एकात्म होकर सामंजस्य पैदा करना

चाहिए, तभी कार्यक्रम सफल होगा व स्वयं को आनन्द भी आएगा। अतः संगीत में श्रोता का विशेष महत्व व भूमिका है, यह कहना गलत न होगा। कला की उन्नति, नवीनता, उत्तमता के लिए कला पारखी का होना जरूरी है। श्रोताओं की रुचि, बुद्धि स्तर, स्वीकृति-अस्वीकृति को कलाकार ध्यान में रखकर ही अपनी कृति में परिवर्तन करता है व प्रस्तुत करता है। इसलिए कलाकार व श्रोता दोनों का महत्व है।

अध्याय 16

संगीत एवं भारतीय दर्शन

संगीत तथा भारतीय दर्शन का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, इसकी विवेचना से पूर्व दर्शन क्या है ? इस सम्बन्ध में चर्चा करना समीचीन होगा। साधारण शब्दों में जीवन को विशेष दृष्टिकोण से देखने की क्षमता दर्शन है, जो उसे व्यावहारिक जीवन की अनुभूतियों से प्राप्त होती है।

दर्शन का अर्थ

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दर्शन शब्द 'देखने' से सम्बन्धित है। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय। जगत्, प्रकृति, आत्मा, शरीर, ईश्वर आदि को देखने का विशेष तरीका अथवा दृष्टिकोण ही दर्शन है। दर्शन शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—

(1) किसी विषय अथवा तत्व को देखने की पद्धति अथवा उसे जानने का दृष्टिकोण।

(2) किसी विशेष दृष्टिकोण से देखने पर सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं, उनका समग्र व व्यवस्थित रूप दर्शन है।

पाश्चात्य मत के अनुसार 'हर विषय का अपना दर्शन' है। यहां दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है। यही दर्शन का प्रथम अर्थ में प्रयोग है। ठीक इसके विपरीत भारतीय दर्शन दूसरे अर्थ के रूप में समझे जाते हैं। यहाँ के ऋषियों, मुनियों ने जिन दृष्टिकोणों से ईश्वर, जगत्, मृत्यु, आत्मा को देखा-परखा, उन सिद्धान्तों को ही विभिन्न दर्शनों (गीता, उपनिषद्, योग, मीमांसा, अद्वैतवाद, वैशेशिक, न्याय) के नाम से जाना गया।

दर्शन का अंग्रेजी पर्याय Philosophy है, जो दो यूनानी शब्दों Philos, तथा Sophia से मिलकर बना है। Philos का अर्थ है प्रेम या अनुराग तथा Sophia का अर्थ है विद्या अथवा ज्ञान। अर्थात् 'ज्ञान के प्रति अनुराग'। दर्शन का अर्थ इससे भिन्न है। पाश्चात्य लोग आजीवन ज्ञान की खोज में लगे रहते हैं, उन्हें प्रश्नों का हल मिलेगा या नहीं, वे लक्ष्य तक पहुँचेंगे या नहीं, इसकी वे चिन्ता नहीं करते। जब कि हिन्दू दर्शन के विभिन्न प्रणेता उस परम लक्ष्य तक पहुँचे, उसे अनुभव किया तथा उस लक्ष्य तक

पहुँचने का मार्ग बताया। ये ही विभिन्न मार्ग दर्शन कहलाए। हिन्दू दार्शनिक-आचार्य केवल कल्पना या तर्क के आधार पर सिद्धान्त नहीं स्थापित करते, वरन् अपने जीवन में सतत प्रयत्न स्वरूप उन्होंने जो सत्य प्राप्त किया, उसका अनुभव किया, वही प्रस्तुत किया। इसके विपरीत फिलासफी, कल्पना या तर्क अथवा बुद्धिगम्य ज्ञान पर टिकी है। यही कारण है कि वहाँ प्रायः धर्म व दर्शन तथा जीवन व विचारों में सामंजस्य नहीं है। इसके विपरीत भारतीय दार्शनिक प्रायः धर्म से जुड़े रहे। शंकराचार्य आज भी धर्म-गुरु माने जाते हैं व हिन्दू धर्म सम्प्रदाय के नेता हैं। रामानुज, निम्बार्काचार्य, पातंजलि, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य, श्रीअरविन्द आदि सभी धार्मिक पंथ के प्रणेता रहे हैं। इनके विचारों का दृष्टिकोण व सिद्धान्तों का समग्र रूप दर्शन है व उसका व्यावहारिक पक्ष धर्म है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार तथा प्राप्त उदाहरणों के अनुसार दर्शन सिद्धान्त है और धर्म व्यवहार है। जहां दर्शन का अन्त होता है, वहीं से धर्म का प्रारम्भ। आत्मप्राप्ति अथवा आत्मबोध होने के बाद दार्शनिक अपने विचारों को धार्मिक कार्यों व रूप में परिणत करता है।

मोक्ष प्राप्ति भारतीय जीवन का परम लक्ष्य है, अतः यहां का दर्शन, धर्म, साहित्य-कलाएँ सभी इस ओर उन्मुख हैं। भारतीय दर्शन में अध्यात्म शास्त्र अर्थात् सृष्टि, जगत् की रचना करने वाला, आदिसत्ता, ईश्वर, आत्मा, परलोक, कर्मफल, मोक्ष आदि प्रमुख हैं। चूंकि पाश्चात्य चिंतक विधि तथा परिणाम की दृष्टि से बुद्धि की सीमा से परे नहीं जा सके, इसलिए आत्मा-नुभूति का मार्ग नहीं अपना सके। वहाँ हर विषय का अलग शास्त्र व दर्शन है, हर वस्तु का तत्व भिन्न है। इसके विपरीत भारत में सभी कलाएँ, विद्याएँ, शास्त्र उस एक तत्व (सच्चिदानंद या ब्रह्म या परमात्मा, चैतन्य परब्रह्म) की ओर उन्मुख हैं।

श्रीअरविन्द के अनुसार—"दर्शन का कार्य ज्ञान के विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री को कुछ भी न छोड़ते हुए व्यवस्थित करना और उनको एक सत्य, एक सर्वोच्च सार्वभौम सद्वस्तु से समुचित सम्बन्ध में रखना है।"

संगीत तथा दर्शन का सम्बन्ध

संगीत जैसे गूढ़, गम्भीर तथा विचार व चिंतन प्रधान विषय का संगीत से सम्बन्ध होना एक आश्चर्य की बात है। प्रत्यक्ष रूप में संगीत से दर्शन का

कोई सम्बन्ध नहीं है। दर्शन चिंतन का विषय है व संगीत भावना का। भावना से अभिभूत होकर जिज्ञासा पथभ्रष्ट हो सकती है। यही कारण है कि दर्शन तथा काव्य अथवा संगीत में एक असंगति जान पड़ती है। विश्व का अधिकांश दर्शन गद्यमय है। अधिकांश दर्शन-साहित्य के बड़े जटिल गद्य में है। पश्चिमी जिज्ञासा का पथ बहुत दुर्गम है। भाषा की जटिलता के कारण, दर्शन बुद्धि की एक नीरस व जटिल प्रक्रिया प्रतीत होता है।

इसके विपरीत भारतीय धार्मिक-साहित्य ही नहीं वरन् अधिकांश दार्शनिक साहित्य भी संगीतमय तथा कवित्वपूर्ण है। संगीत भारतीय दर्शन का अलंकार तथा काव्य उसकी आत्मा है। अधिकांश दार्शनिक-साहित्य पद्यमय है, जिसमें काव्य का सौन्दर्य व संगीत का स्वर है।

किसी भी राष्ट्र का दर्शन, वहां की संस्कृति व उसके विकास को प्रभावित करता है। नृत्य, कला, संगीत, साहित्य के प्रति दृष्टिकोण, दर्शन पर आधारित होता है। दर्शन का प्रभाव साहित्य, कलाओं, जीवन पर देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन चूँकि मूल रूप से आध्यात्मिक है, अतः नृत्य, संगीत, साहित्य में आध्यात्मिकता की छाप देखी जा सकती है। भौतिकवादी पाश्चात्य संस्कृति के मूल में वहाँ की भौतिकवादी दार्शनिक वृत्ति दिखाई देती है। भारतीय विचारधारा के अनुसार सत्य कोई नीरस व निष्प्राण तत्व नहीं है। सत्य केवल हमारी जिज्ञासा का समाधान ही नहीं है, वरन् वह हमारी भावना का परितोष है, वह सरस है, सुन्दर है। भारतीय द्रष्टा जानते थे कि बुद्धि सत्य का साक्षात्कार नहीं करा सकती, केवल उसके खण्डों का ज्ञान कराने में ही वह समर्थ है, इसलिए उन्होंने बुद्धि को अनुभूति से गौण स्थान दिया। ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग को श्रेष्ठ बताया। ब्रह्म के 'सत् चित् आनन्द' अंशों में से आनन्दांश ही भक्तों, ज्ञानियों तथा योगियों का अन्तिम लक्ष्य रहा और आनन्द का सम्बन्ध संगीत से, भक्ति से है, अतः दर्शन का सम्बन्ध संगीत से हमेशा रहा है। संगीत तथा दर्शन का सम्बन्ध एकतरफा नहीं है, वरन् जहाँ दर्शन संगीत से सम्बन्धित है, वहीं संगीत भी दर्शन से प्रभावित है। अतः इनके सम्बन्ध को हम दोनों रूपों में देखेंगे।

भारतीय दर्शन में संगीत का स्थान

ऊपर हमने कहा है कि भारतीय दर्शन का संगीत से सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध किस रूप में है ? दर्शन में संगीत की क्या भूमिका है ? इसकी चर्चा

यहाँ करेंगे। दर्शन में संगीत के महत्व व स्थान की पुष्टि करने के लिए भारत के प्रमुख दर्शनों से सम्बन्धित उदाहरण दिये जा रहे हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, योग, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शनों में संगीत का महत्व व स्थानावलोकन नीचे किया जा रहा है।

(1) **वेद**—भारतीय दर्शन का आरम्भ आज से हजारों वर्षों पूर्व आर्यावर्त के निवासियों के जीवन व चिंतन में हुआ था। ये लोग कल्पनाशील मन के उल्लास से पूर्ण प्राचीन भारतीय प्रकृति की प्रशस्ति के गीत गाते थे। ये ही हमारे देश में जीवन व जगत् विषयक चिन्तन के प्रतीक हैं। इन गीत मंत्रों के संग्रह वेद कहलाते हैं। वेद हमारे विचार व विश्वास के मूल आधार हैं। वेद मूलभूत रूप से दर्शन ग्रन्थ हैं, परन्तु इसके मंत्र गेय होने के कारण संगीतमय हैं। वेदों में संगीत का स्थान निम्न है—

(i) वेदों के मंत्र गेय हैं, चाहे वे एक, दो अथवा तीन स्वरों में गाये जाते थे।

(ii) विश्व को संचालित करने वाली शक्ति की आराधना वैदिक संगीत का वैशिष्ट्य है। सामवेद मुख्य रूप से संगीतमय है। सामगायकों को संगीत में निपुण होना आवश्यक था।

(iii) ऋगवेद की ऋचाओं अथवा सामवेद की ऋचाओं का हमेशा 'गान' किया जाता था न कि 'पाठ'। 'गान' का सम्बन्ध संगीत से है।

(iv) वेदों में संगीत सम्बन्धी सामग्री—स्वरों का विकासक्रम एक, दो, तीन स्वरों में क्रमशः आर्चिक, गाथिक, सामिक आदि उपलब्ध है। उदात्त अनुदात्त स्वरित से सातों स्वरों की उत्पत्ति वेदों में वर्णित है।

(v) गीत तथा उसकी धुन के लिए 'साम' संज्ञा थी। स्वर-रचना की दृष्टि से जन संगीत में गायी जाने वाली धुनों को वैदिक ऋचाओं में प्रयोग किया गया। साम के स्वरमय ग्रन्थ को 'गान संहिता' या 'गान ग्रन्थ' की संज्ञा दी गई थी।

(vi) अनेक वाद्य दुंदुभि, वाण, वेणु, कर्करि, गर्गर आदि का उल्लेख है तथा गीत प्रकार गीर, गातु, गाथा, गीति, साम आदि।

(2) **उपनिषद**—उपनिषद भारतीय दर्शन के आधार हैं। परन्तु इनमें

संगीत सम्बन्धी जानकारी मिलती है। जाबालोपनिषद में स्वरों के षड़ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त छांदोग्य उपनिषद में संगीत क्या है, योग में संगीत का क्या महत्व है, संगीत से मुक्ति मिलना सम्भव है या नहीं आदि पर विचार हुआ है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में नाद, शब्द, स्वर, उनके उपयोग व परिणाम अच्छी तरह बताए गये हैं। आकार या प्रणव उपासना विशुद्ध नादोपासना है। उपनिषदों में कहा गया है कि 'आत्मलाभान्परम विद्यते'। और आत्मा का निर्माण पंचकोषों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय कोष) से हुआ। परम तत्व का साक्षात्कार इस आनन्दमय कोष द्वारा ही होता है। इस सार्वभौम तत्व को पाकर जीव रसप्लावित होता है। संगीत इसी आत्मानंद का माध्यम है। संगीत का मधुर कलरव जब कर्ण-पर्दों में होता है तब हृदय के अन्तस् की चेतना प्रभुत्व हो जाती है। अन्तस् ऐसे अलौकिक आनन्द तथा दिव्यानुभूति का अनुभव करता है जो इन्द्रियजन्य आनन्द से शतोगुण अधिक है।

(3) **गीता**—गीता एक धर्म ग्रन्थ के साथ-साथ दर्शन भी है। गीता की रचना श्लोकमय (पद्यमय) होने के कारण गेय है। गीता के उपदेशकर्ता श्रीकृष्ण स्वयं संगीत की साक्षात् मूर्ति हैं। गोपियों के साथ रास रचाने वाले तथा मुरली से बेसुध करने की शक्ति रखने वाले श्रीकृष्ण की ही वाणी है, गीता में। इसके अतिरिक्त गीता में कृष्ण ने भक्ति मार्ग को ज्ञान योग व कर्म योग से श्रेष्ठ व सरल बताया है। और यह सर्वविदित है कि नवधा भक्ति में संकीर्तन को प्रथम व श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है और संकीर्तन संगीत है।

(4) **न्याय-वैशेषिक**—चेतन जगत के समस्त जोवन में विचार को प्रधानता दी है। विचार द्वारा ही चेतन प्राणि में चेतना उद्भूत होती है। विचार का सबसे छोटा अंश है शब्द, शब्द का आणविक अंश है वर्ण तथा वर्ण की सत्ता है सगुण नाद। यह नाद ही न्याय के ईश्वर की सत्ता का परम कारण है। वैशेषिकों का परम तत्व नाद है।

(5) **सांख्य तथा योग**—कृष्ण की सांख्यकारिका काव्यमय व गेय है। आकाश तत्व व सारे तत्वों का परम आधार नाद ब्रह्म है। पातंजलि ने अपने योग दर्शन में ईश्वर प्राणिधान के अन्तर्गत ईश्वर भक्ति को बहुत महत्व दिया है और ईश्वर भक्ति का सम्बन्ध कीर्तन, भजन, आरती से है।

(6) **वेदान्त**—वेदान्त पर आधारित द्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि अनेक मत हैं। शंकराचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य कोई भी दार्शनिक हों, संगीत को महत्व दिया है। शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों में भजन, कीर्तन, स्तुति, उपासना में संगीत को महत्व प्राप्त है। माध्वाचार्य ईश्वरवादी थे, इन्होंने विष्णु व लक्ष्मी को माना है तथा इनकी भक्ति स्तुति पर बल दिया है। इस सगुण उपासना की भक्ति में, संगीत की प्रधानता रहती है। निम्बार्काचार्य वैष्णव धर्मावलम्बी थे व सर्वोपरि आत्मा व कृष्ण को एक माना है। इन्होंने यह भी माना है कि भक्ति भाव द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। वल्लभाचार्य शुद्ध अद्वैतवाद के प्रणेता थे। इनके द्वारा चलाया गया पंथ पुष्टिमार्ग है। ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम, भक्ति रखनी चाहिये। मोक्ष का मुख्य साधन भक्ति है। पुष्टिमार्ग में भक्ति का संगीतमय रूप ही प्रचलित है।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन अध्यात्म प्रधान है। तथा मोक्ष को आत्मानुभूति, आत्मबोध और आत्म-साक्षात्कार आदि नामों से अभिहित किया है। मनुष्य की आत्मा परमात्मा का ही अंश है, अतः आत्म-साक्षात्कार ही ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष है। भक्ति मार्ग द्वारा सूर, तुलसी, मीरा, चैतन्यमहाप्रभु, वल्लभाचार्य, नंददास आदि ने आत्म-साक्षात्कार किया। भक्ति मार्ग पर चलकर कोटि-कोटि जनमानस संकटों से छुटकारा पा सके।

भारतीय सत्य की धारणा में सौन्दर्य का समन्वय होने के कारण काव्य व संगीत का दर्शन से एक घनिष्ट सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन के मूल आधार वेद तो वाणी की अनुपम विभूति हैं। जीवन के मर्म, संगीत के सप्त स्वरों में सहज मुखरित हो उठे हैं। वेद, उपनिषद, गीता उसकी मधुर ध्वनियों से युक्त हैं। इनके मंत्रों व श्लोकों का मधुर काव्य मुनियों तथा मनुष्यों की आत्मा की संगीतमयता का दर्पण है। प्राचीन युग में भारत का वायुमण्डल सामगान की ध्वनियों से गुंजायमान रहता था। अनेक महत्वपूर्ण दार्शनिक-ग्रन्थ, रमणीय-काव्य व मनोहर पद्यों में हैं। सांख्यकारिका, सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्य सिद्धि, विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी, शंकराचार्य आदि अनेक दार्शनिकों की कृतियाँ पद्यमय हैं, तथा इन पद्यों में काव्य व संगीत पर्याप्त मात्रा में है। भारतीय अध्यात्म अथवा दर्शन में संगीत को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। तपस्या, कर्म, ज्ञान, योग-साधना से सरल व श्रेष्ठ

मार्ग भक्ति को माना है। नाद की शक्ति को आत्मशक्ति माना है। योग मार्ग में नादानुसंधान तथा लय योग की विशिष्ट साधना को महत्व दिया है। स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म का साक्षात्कार भारतीय दर्शन की विशेषता है। इसी वैशिष्ट्य से युक्त होने के कारण संगीत का आदर महर्षियों, दार्शनिकों तथा भक्तजनों ने बराबर किया। अत: भारतीय दर्शन में संगीत का अपना एक स्थान है। यह सम्बन्ध आज भी मान्य है।

संगीत में दर्शन का स्थान

चूंकि भारतीय दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, अत: संगीत का सम्बन्ध अध्यात्म व दर्शन से रहा। संगीत में दर्शन की छाप व महत्व हम निम्न रूपों में देख सकते हैं—

(1) भारत में प्रचलित संगीत एक विकास का परिणाम है व यह विकास वेदों से आरम्भ होता है। एक, दो, तीन, फिर सात स्वरों का विकास वेदों में निहित है। उनके नाम, लेखन चिन्ह 1,2,3 आदि, नाम क्रुष्ट, प्रथम द्वितीय आदि और षड्ज, रिषभ आदि संज्ञाएँ वेदों की उपशाखाओं, उपनिषदों, संहिताओं, शिक्षाओं, शाख्यों में उपलब्ध हैं। ये सभी हमारे दर्शन के आधार हैं।

(2) नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तरपुराण व रत्नाकर में सामवेद के ही स्वरों को शुद्ध स्वर माना है। इस प्रकार प्रचलित संगीत पद्धतियों की परम्परा व विकास वेदों से सम्बन्धित है।

(3) नाट्टशास्त्र संगीत का आधार ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में संगीत को दर्शन से सीधा नहीं जोड़ा है, परन्तु उस पर दर्शन का प्रभाव है जैसे महेश्वर की स्तुति से ग्रन्थ का आरम्भ, उसे पंचम वेद के रूप में स्थापित करना आदि। ग्रन्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथा वर्णित है, उसके अनुसार नाट्य वेद के लिए ऋगवेद से काव्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण किया गया है। अर्थात् नाट्य शास्त्र के उत्पत्तिस्रोत वेद हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि जीवन के पुरुषार्थों के साधन का अनेक बार उल्लेख हुआ है। रसों के देवता आदि का निरूपण दार्शनिक प्रभाव दर्शाता है।

(4) मतंग के वृहद्देशीय पर योग-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वृहद्देशीय के आरम्भ में ही ध्वनि, ध्वनि से बिन्दु, बिन्दु से नाद, नाद

से द्विविध मात्रा (स्वर, व्यंजन, रूप) तथा षड्ज आदि स्वर, इस क्रम में स्वरों की उत्पत्ति बताई है। ध्वनि, बिन्दु, नाद मात्रा आदि संज्ञाएँ योग दर्शन से ही सम्बन्धित हैं। देशी उत्पत्ति प्रकरण में ध्वनि को परायोनी 'मूल कारण' बताते हुए स्थावर, जंगम, सम्पूर्ण जगत को ध्वनि से आक्रांत बताया है। संगीत का मौलिक उपकरण स्वर है, जो आहत् नाद से उत्पन्न होता है और नाद की उत्पत्ति प्राण एवं अग्नि के सहयोग से होती है। प्राण ब्रह्म ग्रन्थि में रहता है, वही ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, वर्द्धन और संहार का कारण है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश नाद रूप है। मतंग के अनुसार—

नादरूपः स्मृतो ब्रह्म, नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपा पराशक्ति, नादरूपो महेश्वरः॥

मतंग ने यह भी माना है कि जीवन में चेतना का प्रतीक भी स्पंदनरूप नाद है। नाद की उत्पत्ति, कारण व विलय का आधार शरीर है तथा पुरुषार्थों का साधन भी शरीर है। संगीतादि कलाओं की साधना भी इसी शरीर से सम्भव हुई। अतः संगीत के लोकरंजक व भवभंजक रूपों के द्वारा उसे भुक्ति तथा मुक्ति का साधन बताया है। यह संगीत की दार्शनिक विवेचना है।

(5) नारदीय शिक्षा तथा प्रतिशाख्यों में संगीत सम्बन्धित बातों—श्रुति, स्वर, ताल, राग वाद्य आदि को देवी-देवताओं से जोड़ा गया है। नारदीय शिक्षा में स्वरों के वर्ण व देवता बताए हैं। भगवान् शंकर के डमरु की ध्वनि से समस्त संगीत का प्रादुर्भाव हुआ। 'रुद्रडमरुद्भवः' सूत्र का वर्णन 'संगीत तथा धर्म' अध्याय में किया जा चुका है। इस प्रकार संगीत को अध्यात्म से जोड़ा गया है और यह परम्परा आज तक कायम है। आज भी तालों, रागों तथा वाद्यों के नाम देवी-देवताओं पर रखे गये मिलते हैं।

(6) शार्ङ्गदेव लिखित संगीत रत्नाकर पर दार्शनिक प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसके स्वरगत प्रथम अध्याय में पिण्डोत्पत्ति प्रकरण में पिण्ड निरूपण, स्थूल भौतिक या वैज्ञानिक आधार पर नहीं है, वरन् वेदान्त दर्शन के अनुसार हुआ है।

गात्र वीणा में नादोत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि हृदय प्रदेश में वायु का आघात ही ध्वनि का कारण है। श्वास प्रक्रिया में वायु का संचार

प्रायः हृदय तक होता है और इसी स्थान में प्राणस्वरूप शिव के साथ आकृष्ट वायु का सम्पर्क होता है। संगीत साधना को योग की तरह स्वीकारा है। शार्ङ्गदेव के अनुसार संगीत साधना में शरीर में स्थित चक्रों पर अधिकार करना अपेक्षित है। अनाहत चक्र के ऊपर विशुद्धि चक्र है और इसमें सोलह पत्र हैं। यही चक्र सरस्वती का निवास-स्थान है। इन सोलह पत्रों पर क्रमशः ओंकार, उद्‌गीथ, हुंकार, वषट्‌, स्वधा, स्वाहा, ब्रह्मा, आत्मा, षड्ज, रिषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद का निवास है। प्रथम से सप्तम तक के भाव देव आदि कार्यों से सम्बन्धित हैं और नवम् से पन्द्रहवें तक संसार से। प्राणायाम के समान संगीत साधना भी वायु नियंत्रण है। वायु नियन्त्रण के कारण ही स्वर का श्रुति पर स्थिर रहना सम्भव है। मंद्र स्वरों के लिये वायु को मणिपुर चक्र (नाभि) के नीचे उतारना अनिवार्य है। यह समस्त भाषा व नादोत्पत्ति का विश्लेषण दार्शनिक प्रभाव से ओत-प्रोत है।

(7) इसके अतिरिक्त संगीत में स्वरों का सम्बन्ध बीजों से जोड़ने की पद्धति भी तांत्रिक मंत्रों में बीज कहने से ली गई है। मंत्रों में किस देवता की उपासना है, यह जानने के लिए वर्णों के आठ वर्ग बनाए गये हैं। अ, क, च, ट, त, प, य, श वर्गों में प्रत्येक वर्ग का सम्बन्ध अलग-अलग देवता से स्थापित कर, बीज का नाम दिया गया है। संगीत में सा, रे, ग, म, प, ध, नि, इन स्वर संज्ञाओं के बीज बताए हैं। सा, ग, म, प और ध अकारांत होने के कारण बीजमंत्रयुक्त हैं, यानि ये स्वर विष्णु से सम्बन्धित हैं। रि तथा नि इकारांत होने के कारण कामबीजयुक्त हैं तथा शक्ति से सम्बद्ध हैं। जो फल यज्ञों को करने से प्राप्त होते हैं, वही फल उन यज्ञ नाम वाली मूर्च्छनाओं से भी प्राप्त हो सकते हैं। ये नाम वृहद्देशीय तथा बाद के ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। यह व्याख्या दर्शन से प्रभावित है।

(8) संगीत में रागध्यान परम्परा के पीछे भी रागों का दार्शनिक चिंतन व विश्लेषण था। ज्ञान, व्यवहार, उपासना के लिए एकाग्रता अथवा ध्यान आवश्यक था। उपासना मार्ग में निर्गुणोपासना की कठिनता के कारण सगुणोपासना विहित थी। योग में मन, बुद्धि, चित्त शुद्धि तथा विग्रह के बाद मूर्ति आदि (वज्र, अंकुश, कुशिल, पाश, चारभुजा, सिंह का वाहन आदि प्रतीकात्मक देवी-देवता) पर ध्यान केन्द्रित करने की विधि है। उसी प्रकार संगीत में 'राग' ब्रह्म की भांति अमूर्त व अदृष्ट तत्व है, उस पर ध्यान

केन्द्रित करने के लिए रागध्यान बनाए गये। इन ध्यानों में रागों की कल्पना देवी-देवताओं के रूप में करके वही लक्षण दिये जो यौगिक ग्रन्थों में थे। संगीतराज में देशी रागों के रागध्यानों में यह योग परम्परा स्पष्ट दिखाई देती है। हमारे संगीत शास्त्रकारों का मत है कि राग के 'नादमय' तथा 'मानसमय अथवा देवमय' दो रूप होते हैं। रागध्यान द्वारा राग के इस देवमय रूप पर चित्त को इस प्रकार समाहित किया जाय कि वह उसके नादमय रूप में उतर आए। इस देवतामय रूप पर ध्यान करने से राग में शक्ति आ जाती है। इस व्याख्या व परम्परा के पीछे दार्शनिक दृष्टिकोण है।

(9) भारतीय कलाकारों ने संगीत को कभी भी साध्य नहीं माना, वरन् उस एक परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में स्वीकारा है। डॉ. वासुदेवशरण के अनुसार "जीवन रूपी संगीत ही नादब्रह्म या वाग्देवी की वीणा है, जिसके सप्तक में विश्व के आनन्द की सप्तधाराएँ मूर्त रूप धारण करती हैं। संगीत की सच्ची साधना वही है जिसके फलस्वरूप मानव का मन उस उच्चतम सूक्ष्म नाद का अनुभव करने के योग्य बन सके।"

अध्यात्म तथा संगीत का गठबन्धन भारतीय परम्परा के मूल में दृढ़ रहा है। संगीत केवल मनोविनोद का साधन न होकर परम-मंगल का विधायक है। नारद, तुम्बरु से लेकर रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि दर्शनाचार्यों ने, चैतन्यमहाप्रभु, त्यागराज, हरिदास, संत ज्ञानेश्वर आदि भक्त गायकों ने तथा सूर, तुलसी, मीरा, नंददास, विट्ठलदास आदि पदरचयिताओं ने संगीत व अध्यात्म का सम्बन्ध प्रगाढ़ किया। अध्यात्म बिन्दु (आत्मा का साक्षात्कार, ईश्वर, मोक्ष) दर्शन के प्रमुख आधार हैं अतः संगीत का सम्बन्ध दर्शन से रहा है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर संगीत का शास्त्र, दर्शन से प्रभावित रहा और शास्त्र निरूपण की शैली भी दार्शनिक शैली से प्रभावित है, वहीं दूसरी ओर भक्ति, उपासना का सांगीतिक (गेय) होने के कारण संगीत का सम्बन्ध आध्यात्मिकता की 'चेन' के माध्यम से दर्शन से जुड़ा रहा। संगीत ही आराधना का माध्यम रहा इसलिए देवालयों में पूजा परिपाटी के अन्तर्गत गीत तथा नृत्य का प्रचलन प्राचीन काल से आज तक बराबर बना है। यह सम्बन्ध चाहे भक्तों के संकीर्तन रूप में हो या देव-

दासियों के रूप में अथवा मोक्ष प्राप्ति या आत्म साक्षात्कार के साधन के रूप में। अतः दर्शन पर संगीत का व संगीत पर दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हिन्दू दर्शन में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका है तथा भारतीय संगीत के प्रति चिंतन का दृष्टिकोण दार्शनिक है तथा दर्शन से प्रभावित है।

संदर्भ पुस्तकें

(1) संगीत चिंतामणि—आचार्य डॉ. बृहस्पति एवं श्रीमती सुमित्रा कुमारी
(2) कला के सिद्धान्त—आर. जी. कलिंगवुड
(3) सौन्दर्यशास्त्र के तत्व—कुमार विमल
(4) कला संदर्भ और प्रकृति
(5) धर्म दर्शन परिचय—हृदयनारायण मिश्र
(6) सौन्दर्यशास्त्र—डॉ. नगेन्द्र
(7) श्री धनञ्जयविरचितं दशरूपकम्—व्याख्याकार डॉ. भोलाशंकर व्यास
(8) Essays in Musicology—Editor R. C. Mehta
(9) AESTHETICAL ESSAYS—S. K. Saxena.
(10) कला और संस्कृति—वासुदेवशरण

पत्रिकाएँ—
संगीत कला विहार,
संगीत
संगीतिका

— शुद्धिपत्र —

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
3	8	कर्तृत्व	कृतित्व
3	21	द्दष्टा	द्रष्टा
4	अनुच्छेद 2	प्रमाण	परिमाण (सभी स्थानों पर)
12	अन्तिम	पर	परन्तु
14	4	बात	बाधा
15	29	प्रणाय	प्रयाण
16	20	तानपुरा	तानपूरा
18	15	आस्कर व्हाइट	आस्कर वाइल्ड
27	अन्तिम	रहगा	रहेगा
29	32	चमत्कृत	चमत्कृत
34	4	पाश्चात्य	पश्चिम
34	24-26	आस्कर वार्डल्ड	आस्कर वाइल्ड
42	26	तानपुरे	तानपूरे
47	7	कल्याण	यमन
47	8	सा रे ग म	सा रे ग मं
		नि़ रे ग म	नि़ रे ग मं
48	4	बहुत	बहुत्व
48	10-11	रे ध	रे़ ध
49	20	ग प रे ग सा	ग प रे ग सा
49	32	पमगरेगमप	पमगरेगमप
50	1 क्रमश:	प़रे	प रे
		प़रे	प़ रे
51	28	निसागमग-रेसा	नि़सागमग-रेसा
52	1	पमरेसानि़सारेमप	पमरेसानि़सारेमप
52	2	निसांनिरेंसांरेंनिसां	निसांनिरेंसांरेंनिसां
59	26	शुंकुक	शंकुक
60	23	अनंकारशास्त्र	अलंकारशास्त्र
67	21	रजको	रंजको
79	19	प्रेषितप्रिया	प्रोषितप्रिया
109	12	मोकाइवर	मेकाइवर